शरद कुमार साधक

15.3

इतिहास के अधखुले पृष्ठ

अतीत की कहानी को ही कहते हैं– इतिहास। अतीत की अवहेलना का अर्थ होता है-- जीवन के क्रमिक विकास की अनुभूतियों की अवमानना, अस्तित्व की अखंडता से तादात्म्य भाव की उपेक्षा और मानव सभ्यता के उत्कर्ष के संग्रहीत तथा अभिलेख्य प्रमाणों की अवगणना। इतिहास ही आज को कल के आख्यान से तथा कल की आकांक्षा से जोड़कर उसे महत्तम बना देता है।

साधकजी ने कल का आज से निकट संबन्ध स्थापित किया है और अत्यंत पुरातन से नितान्त नूतन के क्रमिक विकास का विश्वस्त विवरण दिया है। इतिहास को दर्शन और दर्शन को इतिहास के सांचे में ढालकर प्रस्तुत करने का यह प्रयास है।

लेखक की ऐतिहासिक और पराऐतिहासिक खोजों से कोई पूरा सहमत हो या नहीं, पर इसके पीछे इतिहासकार की समुच्च, लेकिन सोद्देश्य साधना तो झलकती ही है।

☐ डा. वी. के. राय

भारतीय इतिहास का पुराकाल प्राच्य और पाश्चात्य चिन्तकों के लिए अन्तरिक्ष के रहस्य लोक की भांति सदा से नेपथ्य का अदृश्य रमणीय पूर्वाभ्यासजन्य अभिनय सिद्ध हुआ है। अनेक सूत्रधारों ने यवनिका उत्थान कर सत्य को यथार्थ रूप में दृष्टिगत करने और उसे उसका रंग रूप देने का कभी आग्रह तथा कभी आग्रह युक्ति के साथ आतुर प्रयत्न किया है। इसलिए अनेक स्थापनाएं काल, स्थान और व्यक्तित्व की दृष्टि से तर्क और प्रमाण की सम्यक् प्रतीक्षा के कारण प्रश्नों के वृत्त में हैं। उत्तर देने के प्रयत्न में विज्ञान, इतिहास, पुराण, शास्त्र, महाकाव्य जैसे सनातन वाङ्मय के संदर्भों में लेखक द्वारा 'इतिहास के अधखुले पृष्ठ' में अनेक नये प्रश्न खड़े कर दिये गये हैं– हमारी आँख खोलने के लिए, जीवन पथ प्रशस्त करने के लिए। यह उपनिषद या य़वन दार्शनिक सुकरात क्रीटो वार्ता की शैली है। जिज्ञासा का बिन्दु यह है कि तथ्य और सत्य कहाँ है?

☐ डा. मोहनलाल तिवारी

(जन-जीवन शैली बनाम जैन-जीवन शैली)

शरद कुमार साधक

जय जगत् प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक
जय जगत् प्रकाशन
50 संत रघुवरनगर
सिगरा - महमूरगंज मार्ग
वाराणसी-221 010
फोन : 360811

●

प्रथम संस्करण
3 नवम्बरे 1994
(वर्धमान एवं विनोबा निर्वाणोत्सव)
दीपावली पर्व, वि.सं. 2051

●

मूल्य :
30/- (तीस रु. मात्र)
पुंस्तकालय संस्करण
40/- (चालीस रु. मात्र)

●

मुद्रक :

अक्षर संयोजक :
काशी ग्राफिक्स
सी. 2/41, हंकार टोला, वाराणसी।
फोन : 55372

आभार
जिनके ग्रंथों, चित्रों,
विचारों से लेखन को
परिपूर्णता प्राप्त हुई।
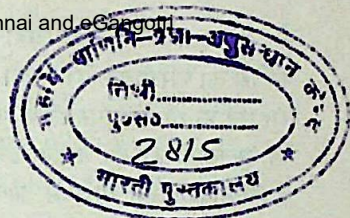
अस्तित्व का ज्ञान कहाँ और कब के सम्यक् सम्बोध बिना अशुद्ध और अधूरा ही नहीं, असंभव भी है। इन्हीं को पारिभाषित करते हैं दिक् और काल। यहाँ कुछ भी ऐसा नहीं, जो बनता-बिगड़ता, बढ़ता-घटता, जनमता-मरता न हो, सिवा सतत्-स्थायी समय के। पर, हमारा मुन्ना सा अभिशप्त मस्तिष्क समर्थ और सक्षम कहाँ है समस्त समय की शाश्वतता को समेट पाने में। समझने की सुविधा और समझाने की सुभीता के लिए बाँट रखा है इसे उसने भूत-वर्तमान-भविष्य में। सच में होता तो केवल एक है- वर्तमान, जो होता है काल का अन्तिम अविभाज्य परमांश, भूत और भावी के बीच का सूक्ष्मतम क्षण, जो जानते ही हाथ से सरक जाता है। शेष तो स्मृति या कल्पना मात्र है- अस्तित्वहीन। पर, मानव मन भी क्या है, वह जीता है बस इन्हीं में, जो हैं ही नहीं- पीछे देख-देख कर या आगे सोच-सोच कर।

मन को अतीत की स्मृति में अपार आकर्षण और बीती-बिसारने की सीख में निश्चित निमंत्रण मिलता है- निरंतर और नितराम्। अतीत की कहानी को ही कहते हैं इतिहास। अतीत की अवहेलना का अर्थ होता है- जीवन के क्रमिक विकास की अनुभूतियों की अवमानना, अस्तित्व की अखण्डता से तादात्म्य-भाव की उपेक्षा और मानव-सभ्यता के उत्कर्ष के संग्रहीत और अभिलेख्य प्रमाणों की अवगणना। इतिहास ही आज को कल के आख्यान से तथा कल की आकांक्षा से जोड़कर उसे महत्तम बना देता है। यही युगों की लम्बी दूरी को हटाकर पुरनियाँ-पुरातन को नितांत नूतन बनाकर प्रस्तुत करने का एक शास्त्र है।

क्रोसे का दृढ़ विश्वास था कि इतिहास केवल दार्शनिकों द्वारा और दर्शन केवल इतिहासज्ञों द्वारा ही लिखा जाना चाहिए। दार्शनिक मानसिकता है समग्रता के परिपेक्ष्य में देखने की आदत। इतिहास का अपना एक दर्शन है। दर्शनविहीन इतिहास घटनाओं की ढेर मात्र है और इतिहासविहीन दर्शन केवल तर्क-युक्तियों का मकड़जाल है- जो समाज शास्त्री के लिए बिलकुल बेकार है। यदि क्रोसे विश्वास्य और मान्य है तो भला 'इतिहास के अधखुले पृष्ठ' को जनसामान्य के सामने पूरा-पूरा खोल कर रख देने वाला श्री शरद कुमार साधक से योग्यतर अधिकारी और पारदर्शी द्रष्टा कहाँ मिलेगा? वे प्राच्य दर्शन से अनगिनत प्रकार से जुड़े हैं, और अनन्त जड़ों से जुड़े हैं। वे भारतीय संस्कृति के समाख्यात सुशिक्षक, आस्था और अध्यात्म के अभिख्यात आरक्षक, सरस्वती के अनन्य उपासक, सत् एवं संत साहित्य के सौम्य समीक्षक तथा भारतीय इतिहास के साधक भी हैं और शोधक भी। इन्होंने सम्यक् श्रमण-साधना भी की है और संयम-जीवन जीया है। इसीलिए 'जन-जीवन शैली बनाम जैन-जीवन शैली' की व्याख्या के सक्षम अधिकारी

हैं। साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह विहीन शैली में जैन-संस्कृति का ऐसा रेखांकन एक संयमित साहस का परिचायक है। इनकी ऐतिहासिक और परा-ऐतिहासिक खोजों से कोई पूरा-पूरा सहमत हो या नहीं, पर इसके पीछे एक इतिहासकार की समुच्य लेकिन सोद्देश्य साधना तो झलकती ही है। पाठक इसे अपनी कहानी समझ कर पढ़ता है और प्रसन्न होता है, क्योंकि इसके पीछे से झाँकता है जीवन का नित्य एवं प्राकृत रूप। यों, इतिहास होता तो है मृत तथ्यों का सूखा कंकाल मात्र, पर उसे रक्त-मांस-मज्जा देकर ऐसा सुन्दर स्वरूप दे दिया है, जो देखते ही बनता है।

यह एक अत्यंत दुखद और दुर्भाग्यपूर्ण सत्य है कि हमारे देश का अधिकांश इतिहास अनुमानाश्रित है। पूँजी के रूप में ले दे कर हैं कुछ पौराणिक कथाएँ, प्राचीन अनुश्रुतियाँ, अत्युक्तिपूर्ण प्रशस्तियाँ या तथ्य और कहानी के ऐसे गड्डमगोल जिन्हें अलग-अलग करना असंभव नहीं तो दुरूह और दुश्चर अवश्य है। यथातथ और तर्कसंगत इतिहास के स्थान पर लोकप्रिय कहानियों का ही सहारा रहता है। पता नहीं चल पाता कि अमुक घटना घटी भी या नहीं। काश ये स्मारक चिन्ह, भग्नावशेष और पुरातत्ववादी के फावड़े की प्रतीक्षा में उत्खात टीले अपने पेट की कड़वी-मीठी स्मृतियों को उगल देते तो इतिहास के न जाने कितने बन्द पन्ने खुल जाते। कलाकृतियों, भवनों, चित्रों, मूर्तियों और मुद्रा-मुहरों ने भी तो मुँह पर मुहर लगा रखी हैं। प्राचीन भारत इतिहास लेखन के प्रति उदासीन रहा। उसके लिए इतिहास केवल कहानी रही। साधकजी की पैनी आँखों ने अतीत की शताब्दियों की मोटी दीवारों को पार कर तत्कालीन तथ्यों को उजागर करने का अकथ और अथक प्रयास किया है। इसीलिए इसमें ऐसे अनेक स्थल हैं, जिन्हें इतिहास से अपरिचित पाठक जल्दी समझ नहीं पाते। कल्पना और प्रतिभा का, विद्वत्ता और भावुकता का, साहित्यिक अभिरुचि और वैज्ञानिक मानसिकता का एक अपूर्व पुट दीखता है इनके सूक्ष्मभेदी पर्यवेक्षणों में।

जैसा नाम है, इसमें प्रचुरता से जैन संस्कृति का ही प्रतिपादन है। प्रारम्भ किया गया है सामाजिक-जीवन के अंकुर के सूत्रपात से। प्रकृति सम्पदा अपर्याप्त होते ही पनपी छीना-झपटी और संग्रह की प्रवृत्ति। फिर विकसित हुआ राजतंत्र। प्रवाह क्रम में उभरी हिंसा-अहिंसा, स्तेय-अस्तेय, परिग्रह-अपरिग्रह, सत्य-असत्य आदि की भँवर धाराएँ, जो विरोधी नहीं एकदिशागामी और परस्परपूरक थीं। राजतंत्र में सर्वप्रथम अयोध्या नरेश ऋषभ देव का उल्लेख है।

तब यह हिमवर्ष था और बाद में उनके पुत्र भारत के नाम पर भारतवर्ष हो गया। ऋषभदेव अहिंसा के महान् उपासक हैं। श्रमणों ने इन्हें प्रथम तीर्थंकर और वैदिकों ने अष्टम् अवतार माना। वे किसी विशेष सम्प्रदाय से संबन्धित नहीं। इतिहासकारों का कथन है कि उनका प्रभाव अन्य देशों में भी रहा। साइप्रस से ई.पू. बारहवीं शताब्दी की मूर्ति मिली है, जिसे वहाँ के लोग 'रिशफ' की मूर्ति मानते हैं। इतिहासज्ञ ऋषभ को ही 'रिशफ' मानते हैं। बात सच्ची प्रतीत होती है। इस प्रसंग से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण-धर्म और श्रमण-धर्म में अविरोध है। उत्तरोत्तर विकास क्रम को इतिहास-शैली में सँजोया-सँभाला गया है। ई.पू. आठवीं सदी में हुए पार्श्वनाथ, जिनको बड़ी प्रतिष्ठा मिली। संघ निर्माण उन्हीं की देन है। ई.पू. पाँचवीं शताब्दी में आये चौबीसवें

तीर्थंकर भगवान् महावीर-अहिंसा के महानतम व्याख्याता, प्रमाता और प्रयोक्ता।

जैन धर्म की प्रभावना, उपासना, जैनतत्वज्ञान के अध्ययन अनुशीलन, परिरक्षण, परिवर्धन, प्रसरण आदि का पुस्तक में बड़ा ही प्रमाण पुष्ट और प्रयोग-सिद्ध विश्लेषण है। राजाओं, प्रशासकों उच्चाधिकारियों के प्रभाव, श्रद्धालु प्रजाजनों की निष्ठा, ब्राह्मण धर्मानुयायी राजवंशों के प्रश्रय के कारण जैन संस्कृति का अभ्युदय, विकास और विवर्धन होता रहा। वह एक ससीम सम्प्रदाय कभी नहीं रहा। समग्र लोक-जीवन पर उसकी छाप पड़ी। सबको आत्मतुल्य मान कर अहिंसा के हानिरहितता-सिद्धान्त का पाठ पढ़ने-पढ़ाने का उपदेश दिया गया। पर, ध्यान रखा गया कि अहिंसकों के साधन भी हिंसात्मक न रहें।

श्रमण-साधना और जन-जीवन में बड़ा अंतर था, जो स्वाभाविक है। लोक में दुख-मुक्ति का उपाय है- परिग्रह, श्रमण का उपाय है आत्मनिग्रह। श्रमण-संस्कृति व्यक्ति प्रधान, पर जनजीवन समाज प्रधान। श्रमण के लिए मातृ-पितृ स्नेह भी मोहजनक, पर लोक का कर्तव्य। दोनों की अपनी-अपनी आचार-संहिता रही। एक में ब्रह्मचर्य की मर्यादा रही तो दूसरे में विवाह की। समाज में हिंसा भी क्षम्य, असत्य भी प्रयुज्य और स्तेय भी व्यवहार्य है। समाज महात्मा गाँधी के विचार को मान्यता करता है। सामाजिक अनिवार्यता को जन-मार्ग और दया-अहिंसा को अध्यात्म मार्ग माना जाता है, फिर भी दोनों में कोई विरोध नहीं। श्रमण के लिए मानदण्ड हिंसा-अहिंसा की दृष्टि है, पर सामान्य जन के लिए उपयोगी-अनुपयोगी की भावना। मोक्ष श्रमण का अन्तिम उद्देश्य है, गृहस्थ केवल उपासक। ये दोनों समान्तर रेखाओं की तरह साथ-साथ तो चलते हैं, पर मिलते कहीं नहीं।

यह एक विचित्र विडम्बना है कि धर्मप्रवर्तकों के आँख मूंदते ही उनके अनुयायी अनेक खेमों में बँट गये। लगता है, धर्मोपदेष्टा बोलते थे अपनी मातृभाषा में। महावीर स्वामी के समय में सोलह प्रान्तीय बोलियाँ थीं, लेकिन उनकी धर्म-देशना अर्धमागधी में ही होती थी। गणधर उसे अपनी भाषा में समझ लिया करते थे। बाद में शास्त्र शब्द-बद्ध हुए। उस समय लिखने की लिपि थी ब्राह्मी। भगवान् बुद्ध की उपदेश-भाषा कोशल की बोली थी। शताब्दियों बाद उपदेश लिखे गये किसी अन्य राजभाषा में। उनके अनुभव साधनाप्रधान होते थे, जो जीने की वस्तु है, पाने की नहीं। पर समझना जरूरी भी है। वे कहते हैं कुछ और और श्रोता समझता है कुछ और। वे बोलते हैं अपना अनुभव, जहाँ शब्द की कोई गति नहीं। अनुभव का अनुवाद अक्षरों में? मौन की ध्वनि शब्दों में? अपरिभाषितों की परिभाषा पदों में? रहस्य का व्यक्तीकरण वाणियों में? असंभव। निश्चय ही मन में प्रतिबिम्ब टेढ़ा-मेढ़ा, टूटा-फूटा, धुमला-धुँधला होगा। बाद में अलग-अलग शिष्यों ने अपनी समझी बात को अपनी भाषा में बाँधा। इस प्रकार हर शिष्य ने अपने गुरु को अपने साँचे में ढाल दिया और अनेक सम्प्रदाय बन गये। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के दो सौ वर्ष बाद ही बौद्ध धर्म अठारह सम्प्रदायों में बँट गया। संत कबीर को मरे अभी कितना समय हुआ, पर आज उनके एक सौ उन्तीस प्रतिद्वन्दी पंथ बन गये हैं। यदि उपदेश उपदेशक के लिखित शब्दों में रहते तो संभवतः इतनी दुर्दशा न होती।

यह भी एक विलक्षण संयोग है कि हमारे सारे अवतार (भगवान्) क्षत्रिय राजन्य रहे। कई कारण हैं। इनमें से कुछ तो वेद-विरोधी, यज्ञ-प्रधान संस्कृति के कटु आलोचक और ब्राह्मण-व्यवस्था के प्रति विद्रोही रहे। वैदिक काल से ही पूरब के लोग विद्रोह करते रहे। जनक, याज्ञवल्क्य, महावीर, बुद्ध आदि पूर्वी प्रदेश के ही थे। संत कबीर इसी श्रृंखला की अंतिम लेकिन सशक्त कड़ी हुए। यह सारा विरोध वर्णाश्रम व्यवस्था की पृष्ठभूमि में ही हुआ। चन्द्रगुप्त ने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया और अंत में जैन श्रमण बन कर उपवास द्वारा शरीर त्यागा। कालिदास भारत के सबसे बड़े कवि हैं, पर यह आश्चर्य की बात है कि उनकी एक भी पंक्ति में ब्राह्मण-व्यवस्था के प्रति असंतोष की छाया तक नहीं। आज का समाज इतने बड़े कवि सम्राट् से इस विद्रोह की अपेक्षा तो रखता ही है।

भारत का सारा सांस्कृतिक इतिहास ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष की कहानी है। अनन्त अर्थ-लाभ-लोभी ब्राह्मण और शासन-सुख-संग्रही क्षत्रिय ऋग्-वेद काल से ही संघर्षरत रहे। 'दाशराज्य युद्ध' विश्वामित्र और वशिष्ठ का पौरोहित्य-विवाद है। परशुराम ने क्षत्रिय वंश को विद्यादान देना अस्वीकार किया। ज्ञान की कुंजी रही केवल ब्राह्मणों के हाथ, पर जब क्षत्रियों ने ब्रह्म और आत्मा जैसे रहस्यों से भरे उपनिषदों की रचना कर दी तो उनका निर्धन प्रतियोगी हाथ मलता रह गया। इतना ही नहीं, क्षत्रिय स्वयं हर देवालय में जा बैठा। राम, कृष्ण, पार्श्व, बुद्ध, महावीर आदि इसी संघर्ष के देवता हैं। कृष्ण स्वयं ब्राह्मण अनुष्ठानों के केन्द्र इन्द्र के शत्रु रहे। परम्परागत ब्राह्मण अट्टालिका भहरा कर गिर गयी। ब्राह्मणों ने भी इसी प्रतिक्रिया में शुंग, आंध्र सातवाहन, कलिंग आदि राज्य स्थापित किये। इतिहास का इस दृष्टि से भी अध्ययन करना होगा कि किसी विशेष घटना के कारण उसी घटना में नहीं अनेकानेक स्थानों से भी आ सकते हैं। धर्मों और संस्कृतियों का उदय-अस्त भी इसके अपवाद नहीं। खेद का विषय है कि धार्मिकों ने इतिहास को ईश्वरेच्छा का पवित्र नाटक माना। कुछ कहते हैं कि इतिहास केवल किसी महापुरुष के श्रेष्ठ-बौद्धिक-सामर्थ्य से उपजता है। कुछ भूगोल, भूमि और जलवायु को प्रभावी मानते हैं, कुछ वंश-वर्ण-कुल पर उत्तरदायित्व थोपते हैं, और आधुनिक ज्ञान सारा महत्व देता है केवल आर्थिक परिवेश को। पर किसी भी घटना को एक रुखानी नहीं, अनेक और अनेक प्रकार की रुखानियाँ छील-छाल कर एक साथ निकालती हैं। इतिहासज्ञ की ऐसी ही दृष्टि हर घटना को उसके वास्तविक रूप में पहचान सकती है।

सभी धर्मों, पर विशेषकर जैनधर्म के निदेर्शित निदेश निषेधक और नकारात्मक ही नहीं, बहिष्कारात्मक हैं— अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, अक्रोध आदि। यह रोक-छेंक साफ-साफ कहती है कि इन अभावात्मक, असहज गुणों को आयास-अभ्यास द्वारा अर्जित करना पड़ता है, संयम-साधना द्वारा सीखना पड़ता है और संकल्प-संघर्ष द्वारा समुपलब्ध करना पड़ता है। आज के सारे दुर्गुण हमारे पशुजीवन के महान् सद्गुण रहे हैं- हिंसा, हत्या, परिग्रह, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि। अपने जन्मगत जन्तु मन से लड़कर, सहजप्रेरित प्रवृत्तियों की सुविधाओं को सहर्ष नकार कर, शारीरिक सुखों को राजस्व-रूप में चुका कर ही हम मानव-मानस प्राप्त करने का साहस बटोर सकते हैं। बहिष्कार ही इस दुर्लभ

परिवर्तन का अमोघ हथियार है, सशक्त ब्रह्मास्त्र है।

यह सच है कि इन निषेधों की अत्यंत अहम् भूमिका है, पर, यह भी कम सच नहीं कि इन्हीं के साथ धर्म- जो स्वभावतः पारनैतिक होता है- में अनिवार्यतः और बलात् प्रवेश हो गया नैतिकता की प्रसृत और प्रवृद्ध प्रवृत्तियों का - क्या अच्छा.क्या बुरा, क्या शुभ क्या अशुभ, क्या करणीय क्या अकरणीय। इस प्रकार आचार-मीमांसा धर्म का और विशेषकर जैन धर्म का विशिष्ट अंग बन गया। धर्म इतना बँध गया कि अपवाद को पहचान नहीं पाया। आचार ही निर्वाण का सत्तम साधन बन गया, धार्मिकता का पुष्ट प्रमाण बन गया और अप्रकट अभ्यंतर की प्रत्यक्ष पहचान बन गया। आचरण का आवरण प्रधान हो गया और भीतर का अंतस् गौण। लोग होते हैं कुछ और, और आचरण थोप कर दिखते हैं बिलकुल ही और। क्योंकि, कौन क्या है, यह निर्भर करता है उसके प्रति दूसरों की राय पर। इस परमुखापेक्षिता ने पाखण्ड को पैदा किया, जिसके कारण न तो व्यक्ति का कोई व्यक्तित्व रहा, न निज का निजत्व और न ही अमिश्र अस्तित्व। समायोजन के चक्कर में हम जो होते हैं, उसे छिपा लेते हैं और जो नहीं होते, उसे दिखाने लगते हैं और, हम ईमानदारी से अपने भीतर झाँक कर अपने को पहचानने का प्रयास भी नहीं कर पाते। फिर तो अपने से ही भगने लगते हैं, ताकि कहीं एकान्त में अपने से भेंट न हो जाय। जंगल के जंगली जानवर के सामने जाना आसान है, पर भीतर बैठे जंगली जानवर को देखना भी कठिन है। इसके कारण हर व्यक्तित्व दोहरा हो गया- एक असली, एक नकली।

धर्म निन्दा करता है कुछ मनोवेगों की और कुछ की प्रशंसा, बिना सोचे-समझे कि क्षमा-क्रोध, प्रेम-घृणा, विनम्रता-अहंकार आदि में कोई मौलिक विरोध नहीं। वे एक ही शक्ति के रूपान्तरित स्वरूप हैं। दोनों ही रूप मंगलमय और कल्याणप्रद हैं, तटस्थ और निष्पक्ष हैं। उपयोग उन्हें जैसा बना दे। व्यक्तित्व के सम्पूर्ण चित्र में दोनों के अपने-अपने रंग हैं। इनके बिना जीवन का रंग-बिरंगा चमकता चित्र नितांत अधूरा, बिलकुल बदरंगा और एकदम कुरूप बन कर रह जाता है। तथाकथित दुर्गुणों का दमन नहीं, मार्गीकरण ही उत्तमोत्तम उपयोग है। धर्म में नैतिकता की प्रधानता हमारी भूल ही नहीं, एकान्तिक अपराध है, सांघातिक दोष है, जघन्य जुर्म है।

हमारी दो सहज प्रवृत्तियाँ हैं- आत्मविकास और आत्मविस्तार, 'मैं' और 'मेरा'। इन्हीं से बनता है व्यक्ति और समाज। दीखें भले ही दो, पर ये हैं एक ही व्यक्ति के दो रूप। आत्मविस्तार मात्र साधन है आत्मविकास का। आत्मविस्तार का अर्थ है सर्व में 'अहं' और 'अहं' में सर्व का दीखना। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए ही 'मैं' ने समाज का साधन जुटाया है। अतः समाज की सारी बुराइयाँ व्यक्ति-हृदय की बुराइयाँ हैं। धर्म सामाजिक क्रान्ति का नहीं, आत्मक्रान्ति का मार्ग है। सुधरना और सुधारना दो नहीं, एक ही क्रिया है। अतः जैन-दर्शन के सिद्धान्तानुसार हमारा आदर्श होना चाहिए व्यक्तिबोध, समाजबोध नहीं। इतिहास गवाह है कि समाज को समाज ने कभी नहीं बदला, बदला है व्यक्ति ने-राम, कृष्ण, महावीर बुद्ध, गाँधी जैसे।

कहते हैं हम सभ्य होते जा रहे हैं। कितना बड़ा भ्रम है। सभ्यता, चाहे जिस कोण

से देखें, हमारी आवश्यकताओं की वृद्धि, हमारी तृष्णा का विस्तार ही तो है। इन्द्रिय-तुष्टि की लालसा ने ही तो सभ्यता को जन्म दिया। इस तृप्ति की तलाश में ही तो हमने सारे साधन जुटाये। पता नहीं, कब सीख पायेंगे कि सुख के लिए तृष्णा-तृप्ति का तरीका महज़ मृगतृष्णा है। इस रोग के धन्वंतरि हैं भगवान् महावीर, जिनसे सीखना है:

$$\text{तृप्ति} = \frac{\text{प्राप्ति}}{\text{तृष्णा}}$$

इस समीकरण से स्पष्ट है कि प्राप्ति बढ़ने से तृप्ति नहीं बढ़ती, क्योंकि प्रत्येक प्राप्ति से स्वतः निकलती है एक नयी और बड़ी तृष्णा और तृष्णा बढ़ी कि तृप्ति घटी। अपरिग्रह मार्ग ही इस सूक्ष्म सूत्र का सक्रिय पर कष्टसाध्य उपयोग और प्रयोग है। तृष्णा शून्य हो जाय तो तृप्ति स्वतः अनन्त हो जायेगी। यह है निर्ममत्व का मार्ग। इसमें मना है संसार में चिपकना, संसार को भोगना नहीं। इसमें है संयम का विकास, तृप्ति और तृष्णा का समन्वय और योग-भोग का संतुलन तथा तेरा-मेरा का सामंजस्य। यह है स्वामी महावीर का जीवन-विज्ञान, जो दिखाया नहीं, केवल जीया जा सकता है।

इतिहासकार कहते हैं कि इतिहास अपने को दुहराता है। सच है, पर तभी तक जबतक हम अपने इतिहास से कुछ सीख नहीं पाते। यदि सारा खेल व्यक्ति मात्र का है तो उसे अपने महान् उत्तरदायित्व को समझना होगा। अपने इतिहास की अनुभूति से हमें यही सीखना-समझना है तभी उसकी उपयोगिता है सर्वसमत्व, सर्वोदय और समग्रबोध की प्राप्ति में।

साधक जी ने इन्हीं दार्शनिक सत्यों के परिपेक्ष्य में ऐतिहासिक और प्राग्-ऐतिहासिक तथ्यों का आद्योपान्त अनुशीलन किया है। उन्होंने एक परिपाटी-प्रिय सामान्य इतिहासकार की तरह कल के कृत्यों - भौतिक भावाभावों, इह और पार लौकिक साहित्यों, आध्यात्मिक उत्थन-पतनों, आर्थिक ह्रास-विकासों वंशानुचरितों, वंशतालिकाओं आदि का एक चित्रकार की तरह सजीव चित्रण ही नहीं किया है और न केवल तत्कालीन समाज को एक दर्पण दिया है बल्कि एक सजग वैज्ञानिक की तरह प्रेक्षण-निष्कर्षण और विग्रह-विश्लेषण किया है, कल का आज से निकट सम्बन्ध स्थापित किया है और अत्यंत पुरातन से नितांत नूतन के क्रमिक उद्भव और उद्विकास का विश्वस्त विवरण दिया है। इनका वर्णन और विवरण दृष्टिकोण सामान्य ऐतिहासिक परिपाटी से एकदम अलग है। भूत के शोषण-संहार का आर्थिक आधार, कला और साहित्य का सांस्कृतिक आधार, कल्पना एवं गल्प प्रधान कथानकों में प्रक्षिप्तांशों का विस्तार, विवाद-विरोध बहुल वृत्तांतों से केवल तत्वभूत का स्वीकार, उनके लेखन-दर्पण-प्रतिबिम्ब में स्पष्ट दिखायी देता है। आने वाले कल का आज के और भूत के आधार पर क्या संभव स्वरूप होगा, इस पर भी प्रखर प्रकाश डाला गया है। इतिहास को दर्शन और दर्शन को इतिहास के साँचे में ढाल कर प्रस्तुत करने का उनका यह सद् प्रयास सचमुच स्तुत्य है, श्लाध्य है, सराहनीय है और प्रशंस्य है।

आचार्यकुल
वाराणसी — डॉ. वी.के. राय

आमुख

गाँधी विचारधारा से अभिप्रेरित होकर आचार्य शरदकुमार साधक जी आधुनिक भारत की विभूति संत विनोबा की सन्निधि में एक कर्मयोगी कार्यकर्ता बने। पिछले 45 वर्षों से सर्वोदय, भूदान आन्दोलन, आचार्यकुल में अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन कर रहे हैं। इससे पूर्व अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी के सान्निध्य में सदाचार प्रधान जैन जीवन दर्शन का प्रचार-प्रसार किया। श्रमण-परंपरा एवं चिन्तनधारा में एक उदार क्रान्ति उपस्थित करने हेतु यशस्वी आचार्य सुशील मुनि द्वारा संचालित अभियानों में भी देश-विदेश में आपने साथ दिया। 1975 में उ.प्र. के राज्यपाल ने आपको भगवान महावीर निर्वाण समिति का सदस्य मनोनीत किया। 1978 में 'वर्ल्ड कान्फ्रेंस ऑफ रिलिजन फॉर पीस' जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के कार्य से आप विदेश गये और फिर सर्व धर्म सद्भाव के क्षेत्र में चर्चित हुए। महात्मा गाँधी की 125वीं जयंती, विनोबा की जन्मशती एवं स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती के उपलक्ष्य में 1994 से 1997 के लिए संपन्न होने वाले जय जगत् महोत्सव का आपको राष्ट्रीय संयोजक बनाया गया है। प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में गठित विनोबा शताब्दी समिति के आप सक्रिय सदस्य हैं। सामाजिक तथा सांस्कृतिक जगत् में क्रम-क्रम से अपने जीवन को हमारे लिए अधिक उपयोगी बनाने का अनवरत प्रयास करने वाले साधकजी हमारी सांस्कृतिक नगरी वाराणसी में ज्ञानयोगी माने जाते हैं। इतना इसलिए कि सेवा के क्षेत्र में चुपचाप लगे रहने वाले लेखक की धरती का हमें आंशिक बोध हो सके।

भारतीय इतिहास का पुराकाल, प्राच्य और पाश्चात्य चिंतकों, अध्येताओं तथा जिज्ञासुओं के लिए अंतरिक्ष के रहस्यलोक की भाँति सदा से नेपथ्य का अदृश्य रमणीय पूर्वाभ्यासजन्य अभिनय सिद्ध हुआ है। अनेक सूत्रधारों, रंगकर्मियों एवं कृति रचनाकारों ने यवनिका उत्थान कर सत्य को यथार्थरूप में दृष्टिगत करने और उसे उसका रंगरूप देने का कभी आग्रह, कभी आग्रहमुक्ति के साथ आतुर प्रयत्न किया है। तब, इसलिए अनेक स्थापनाएं विवादों से आच्छन्न बनी हुई हैं। आर्य और अनार्य संस्कृति, आर्यों के भारतीय या भारतेतर अस्तित्व, द्रविड़ों के पृथक् इतिहास, भूगोल और संस्कृति तथा जय-पराजय की गाथा, भारतीय संस्कृति और इतिहास के मूल आधार, वैदिक वाङ्मय की विकासजन्य सापेक्षता और प्रामाणिकता ही नहीं अपौरुषेयता, जैन जीवन प्रणाली का वास्तविक समारंभकाल, लोकमान्यता के प्रश्न, दर्शन और विचार की श्रेष्ठता से जुड़ी जिज्ञासा, इतर दर्शनों और विचारों से उसका संघर्ष, महापुरुषजन्य अनेक चरित्रों का अभिनव, यथाकदा विस्मयकारी, निर्वचनं, परंपराविरुद्ध विभिन्न वाङ्मय के अभिनव विकास के संशयात्मक सोद्देश्य प्रयत्न, आर्यसंस्कृति, जैनसंस्कृति, बौद्ध संस्कृति तथा

भारत में आगत अनेक भिन्न विदेशी संस्कृतियों की विभिन्न गुणमात्रा में पृथक् और समन्वित मूल्यांकन, बैबीलोन, पिरामिड और मोहनजोदड़ो संस्कृतियों के परस्पर संबंध, बुद्धपरस्ती या बुतपरस्ती का बर्बर अंधविरोध, तलवारजन्य संस्कृति विरोधी संस्कृति का अभ्युदय, मनुष्य के विरुद्ध मनुष्य की अनवरत हिंसा, ईश्वर या एकेश्वर और ईश्वरोनास्ति, भौतिकतावाद और अध्यात्मवाद, विज्ञानवाद और कल्पनावाद आदि की जीवन स्थितियां, काल स्थान और व्यक्तित्व की दृष्टि से तर्क और प्रमाण की सम्यक् प्रतीक्षा के कारण प्रश्नों के वृत्त में हैं। इन प्रश्नों के आलोक में लेखक ने इतिहास पर पड़े एक बड़े आवरण को उठाने का प्रयत्न किया है।

अनेक प्रश्नों का उत्तर देने के प्रयत्न में विज्ञान, इंतिहास, पुराण, शास्त्र, महाकाव्य जैसे सनातन वाङ्मय के संदर्भों में लेखक द्वारा 'इतिहास के अधखुले पृष्ठ' में अनेक नये प्रश्न खड़े कर दिये गये हैं। यह उपनिषदों या यवन दार्शनकि सुकरात-क्रीटो वार्ता की शैली है। जनमेजय सामने उपस्थित रहे तो वैशम्पायन व्यास ने महाभारत की और उसके माध्यम से अनेक पुराणों, महापुराणों, इतिहासों और इतर आर्षग्रंथों की कथा 'भरत' और 'भारत' की कथा के रूप में कही। हमारी आंख खोलने के लिए, जीवन-पथ प्रशस्त करने के लिए। यह भी एक प्रयास है। ज़िज्ञासा का बिंदु यह है कि तथ्य और सत्य कहां है?

अपने 'साधक' को आचार्य शरद कुमार साधक ने हस लघु पुस्तक में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। उनका विशिष्ट ज्ञानयोगी व्यक्तित्व इस श्रृंखला की आगामी कड़ियों, रचनाओं में दृश्यमान होता रहेगा, ऐसी मनोरम आशा हमारे विधायक संतोष की संपदा है। कामना यही है-

जीवेम शरदः शतम्

हिंदी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी

डॉ. मोहन लाल तिवारी
22.10.1994

जीवन क्या है? सत्-चित् आनंद की संगति। यह संगति कैसे सधती है, इस बारे में नाना मत है, लेकिन चाहते सब यही हैं कि हमारा जीवन सुखी हो। सुखाकांक्षी ही कहते हैं कि नदियों को बचाओ। पहाड़ों को बचाओ। पर्यावरण को बचाओ। गोवंश को बचाओ। जीव-जगत् को बचाओ। दादा धर्माधिकारी के शब्दों में मानव जंगल के कानून छोड़कर जीवन को नष्ट होने से बचाने की दिशा में क्रमशः बढ़ा, यही सभ्यता का इतिहास है। दूसरों को बचाने से जीवन में संपन्नता आती है और इतिहास-यात्रा आगे बढ़ती है।

एक ऐतिहासिक तीर्थ चारभुजा (मेवाड़) से मेरी जीवन-यात्रा आरंभ हुई। सम्मानित परिवार में पैदा होने से मुझे उन गाँवों में खेलने का मौका मिला, जहाँ मीरा की भक्ति, महाराणा प्रताप के शौर्य, पद्मिनी के त्याग और भामाशाह की दानवीरता के गीत गाये जाते हैं। किशोरावस्था में ध्यान, मौन, चिन्तन, स्वाध्याय के साथ-साथ गाँव-गाँव जाने तथा घर-घर में सत्संग का वातावरण बनाने का अवसर मिला। राजस्थान की पदयात्रा के दौरान धार्मिक क्रांति के बीज बोये। फिर भूदानमूलक ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसक क्रांति की राष्ट्रव्यापी प्रवृत्तियों के लिए समर्पित हुआ। पूरब से पश्चिम की ओर, उत्तर से दक्षिण की यात्रा के दरम्यान तरह-तरह की बोलियाँ सुनी। रहन-सहन, खान-पान, रुचि-शुचि का अन्तर देखा। अनेकता में एकता का बिन्दु यह पाया कि भारतीय जन बड़ों का आदर करते हैं, बराबर वालों से मैत्री रखते हैं, छोटों के प्रति वत्सलता दिखाते हैं एवं पड़ोसी के लिए समय पर सर्वस्व लुटा देते हैं। यही भाव संस्कृति की आत्मा है, जो व्यष्टि और समष्टि को परिपूरकता प्रदान करता है। पं. जवाहरलाल नेहरू के अनुसार सभ्यता के सूर्योदय काल से ही पारस्परिक-एकता की भावना ने भारत के मस्तिष्क पर अधिकार कर रखा है।

व्यक्तिगत कमियों, सामाजिक दुर्बलताओं तथा राष्ट्रीय अन्तर्विरोधों के बावजूद मैं मानता हूँ कि ऐतिहासिक दृष्टि से हम उत्तरोत्तर विकसित हो रहे हैं। अब एकलव्य का अंगूठा काटना एवं द्रुपद सुता को अपमानित करना असह्य हुआ है। जन साधारण में अन्याय का प्रतिकार करने की हिम्मत आयी है और सत्याग्रही के समक्ष शासन झुक सकता है। अब न कोई ऋषि-मुनि दक्षिणा के लिए हरिश्चन्द्र को बाजार में बेचने की हिमाकत करता है और न ही याचक कर्ण से अंग छेद करवा कर कवच-कुण्डल लेता है। श्री कृष्ण वासुदेव ने मांगने पर सुई की नोंक के बराबर भूमि नहीं मिली, वहीं विनोबा ने करीब पचास लाख एकड़ भूमि दान में प्राप्त कर ली। बुद्ध महावीर के लिए जो अहिंसा परम धर्म थी, वह हमारे लिए परमकर्म है। उसी के बल पर म. गाँधी के नेतृत्व

में भारत पराधीनता से मुक्त हो गया। अहिंसक समाज रचना हेतु केवल पदयात्रा ही नहीं की, साइकिल, मोटर, रेल से भी सफर किया। विदेश भ्रमण में वे यान भी काम में लिये, जो हवा में तैरते हैं और पानी पर दौड़ते हैं। देश में हम अपने कुटुम्ब को पालकर व अतिथियों का सत्कार कर संतुष्ट रहते हैंऔर आवश्यकताओं को भी मर्यादित रखते हैं, वहाँ विदेश में आवश्यकताएं बढ़ाने तथा उनसे भी अधिक उत्पादन करने की होड़ है। हमारे खेतों में जितनी उपज है, गायें जितना दूध देती हैं, कारखानों में जितना उत्पादन होता है, उससे कई गुना उत्पादन विदेशी करते हैं। 19वीं सदी के आरंभ में संयुक्त राज्य अमरीका में करीब एक करोड़ गरीब थे, वहीं 20वीं सदी के अंत में वह संसार के सभी गरीबों की सहायता के लिए अपनी तिजोरी खोले बैठा है। लेकिन उसकी सहायता शर्तों के कारण परोक्ष गुलामी बढ़ी है। उपभोक्ता संस्कृति को प्रश्रय मिला है। विश्व की पांच अरब आबादी की अस्मिता के आगे प्रश्नचिन्ह लग गये हैं, जिससे भारत सहित संसार के सभी देशों के विचारक चिन्तित हैं। चिन्ता मुक्ति चाहने वाले 'वर्ल्ड कान्फ्रेंस ऑफ रिलीजन फॉर पीस' के निमंत्रण पर हम चालीस देशों के प्रतिनिधि न्युजर्सी में मिले। बुनियादी समस्याओं पर चर्चा की और चर्चा के अनुरूप अर्चा करने की कार्ययोजना हाथ में ली, ताकि वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में व्याप्त अन्तर्विरोध घटे एवं मानव के सर्वांगीण विकास हेतु नये चिन्तन, नये प्रयोग और नये कार्यक्रमों के दालान खुलें।

विश्व-शांति तथा विश्व-कल्याण के लिए गठित संयुक्त राष्ट्रसंघ अपना पचासवाँ वसंतोत्सव मनाने वाला है। इधर हम विनोबा की जन्मशती तथा म. गाँधी की 125वीं जयंती आयोजित कर रहे हैं। 1997 में भारतीय स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती आयोजित होगी। इसलिए 1994 से 1997 तक जय जगत् महोत्सव मनाने का कार्यक्रम बन गया है। श्री आर्यभूषण भारद्वाज, सतीश कुमार, रेकार्डो दंपति आदि कई देशों में कार्य संयोजित करने में जुटे हैं। भारत के राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने 11 सितम्बर 1994 को विज्ञान भवन, नई दिल्ली में जय जगत महोत्सव का उद्घाटन किया और 2 अक्टूबर को अरुणांचल से श्री बाल विजय के नेतृत्व में त्रिवर्षीय जय जगत मैत्री यात्रा आरंभ हुई, जो मणिपुर, नागालैण्ड, त्रिपुरा, मिजोरम, असम के बाद क्रमशः आगे बढ़ती हुई देश के पांच हजार ब्लाक्स में जायेगी और 'एक्ट लोकली थिंक ग्लोबली' के अधिष्ठान पर सहजीवन को व्यापक अधिष्ठान देगी। देश-विदेश में चलाये जा रहे इस जय जगत अभियान में मुख्यतः पांच प्रश्न विचारणीय हैं :

1. आज की अपेक्षा अधिक उत्तम आर्थिक व्यवस्था की स्थापना कैसे की जाय?
2. संघर्ष और युद्धों को रोकने हेतु हम शांतिप्रिय नागरिक मिलकर क्या कर सकते हैं?
3. सामाजिक न्याय तथा समुदाय के अन्तर्गत मानव की प्रतिष्ठा की रक्षा और उसके विकास के लिए हम सरकारी एवं असरकारी क्षेत्रों के लोग अपने परिवारों, पड़ोसियों, राष्ट्रों तथा विश्व-समाज से किस प्रकार सहायता ले सकते हैं?

4. विश्व शान्ति संबंधी शिक्षण-योजना कैसे बनायी जा सकती है?
5. अध्यात्म और विज्ञान के विविध आयामों को सशक्त बनाने के लिए हम क्या करें, जिससे सामुदायिक जीवन में सम्पन्नता आये, हमारा पारस्परिक भाईचारा गहरा हो तथा विश्व शांति के लिए हम अपने सहकारी प्रयत्नों को बढ़ा सकें?

जीवन-विषयक ऐसे बुनियादी प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में जीवन-शैली, मानवीय मूल्य एवं आधुनिकतम प्रौद्योगिकी की चर्चा होगी, किये गये कार्यों के व्याख्यान होंगे, किये जाने योग्य कार्यों की सूची बनेगी और इस तरह आज, अतीत व अनागत के नाना रंग निखरेंगे। उन रंगों की इन्द्र धनुषी छटा वही समयज्ञ देख सकता है, जो इतिहास-सागर में डूबता नहीं, तैरता है। जैनत्व से मैंने 'तिन्नाणं तारयाणं' का पदार्थ पाठ सीखा और विनोबा ने सिखाया कि 'हम किसी देश विशेष के अभिमानी नहीं। हम किसी धर्म-विशेष के आग्रही नहीं। हम किसी सम्पद्राय या जाति विशेष में बद्ध नहीं। विश्व में उपलब्ध सद् विचारों के उद्यान में विहार करना हमारा स्वाध्याय, सद्-विचारों को आत्मसात करना हमारा धर्म और विविध विशेषताओं में सामंजस्य प्रस्थापित कर विश्व-वृत्ति का विकास करना हमारी साधना है।' यह साधना किये बिना सिद्धि मिलती नहीं। इस साधना क्षेत्र में कदम रखने पर जो अनुभूति हुई, वह 'इतिहास के अधखुले पृष्ठ' में अंकित है। पाठक इस पर अपनी-अपनी रुचि का रंग भरने को स्वतंत्र हैं। कर्ता की स्वतंत्रता ही इतिहास की प्राणवत्ता बनाये रखती है, क्योंकि उसी में 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं' की सामर्थ्य है और हेय, ज्ञेय उपादेय की सीमा रेखा निर्धारित करने की समझ भी।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के विख्यात मनीषी डॉ. मोहन लाल तिवारी ने आमुख तथा राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त प्राचार्य डॉ. विजय कुमार राय ने प्राक्कथन लिखने की कृपा की है। संदर्भ ग्रंथ, चित्र आदि अनेक महानुभावों के अनुग्रह से मिले हैं। काशी ग्राफिक्स ने मुद्रण किया। बेटी आरती जैन (एम.एफ.ए. 1) ने आवरण पृष्ठ बनाया तथा पुस्तक तैयारी में हाथ बंटाया।

सबके सम्मिलित श्रम से सामुदायिक श्रीवृद्धि हो, यही चाह है। जहाँ चाह वहाँ राह। स्वजन हिताय, अल्पजन हिताय, बहुजन हिताय ही नहीं-सर्वजन हिताय जीना है तथा तदनुकूल जीविका व जीवनशैली अपनाना है। अतीत की अंधेरी उजली गलियों में घूमकर जितना जाना-माना, उसका लाभ उठाकर सहजीवन को निरापद बनाना है। जन-गण-मन में विश्वास जगाना है :

हृदय-हृदय में अन्तर्यामी भिन्न पिण्ड ब्रह्माण्ड नहीं है।
गति-मति-कृति से साबित कर दें स्वर्ग यहीं अपवर्ग यहीं है।।

– आनन्द कुमार नायक

अनुक्रम

चित्र-स्रोत

●

न मे मतं न मे वर्णो न च मे आसितं मे कुलम्।
न च मे शास्त्रं न चाचार चिदानन्दोऽहमच्युतः॥

धर्मो न निपते वेषे न तीर्थे न च मन्दिरे।
यत्र मोहो न वा क्षोभः स धर्मो वीतरागता॥

इतिहास के अधखुले पृष्ठ

जन-जीवन-शैली बनाम जैन-जीवन-शैली

मैं जीना चाहता हूँ। आप जीना चाहते हैं। हमारे आसपास का जीव-जगत जीना चाहता है। जीवन की जड़ें अदृष्ट हैं, दृष्ट हैं, द्रष्टव्य हैं। इतिहास को आत्मसात करने, 'नेति नेति' की जिज्ञासा रखने तथा अनागत को आँखों के आगे रखने से जीवन की समग्रता सधती है। इतिहासकार ऐसा नहीं करते। वे अतीत को देखंते हैं, जबकि हमें अतीत के साथ आज और अनागत को भी देखना है। हमारी चाह में जन–गण की आकांक्षा है। जब कोई भूतकाल, वर्तमान काल व भविष्य काल के त्रिवेणी संगम पर खड़ा होकर शाश्वत–जीवन का साक्षात्कार करने की साधना करता है, तब वह जन ही जैन कहलाने लगता है। जैन जगत् का मात्र द्रष्टा नहीं, स्रष्टा है। वह न कभी अपने जीवन या जीवन से जुड़े जगत् की उपेक्षा करता है, न ही विनाश ही करता है। उसे सबकी मैत्री चाहिए 'मित्तीं भूएसु कप्पए'। साधना, श्रम, स्वाध्याय, संयम, शील से संपुष्ट मैत्री जब जीवन–शैली बन जाती है, तब उसका अनुबंध सबकी जीविका व जिजीविषा के साथ होता है। अनुबंधित होने की कसौटी है– जो हम अपने लिए नहीं चाहते, वह दूसरों के लिए भी न चाहें।[1] 'जीओ और जीने दो' के साथ 'जिलाओ और जीओ' का संकल्प लिये बिना यह चाह पूरी नहीं होती और न ही इस चाह को बल देने वाला इतिहास–लेखन हो पाता है। ज्ञात इतिहास के पृष्ठ भी कहाँ शोधकर्ता खोलते हैं? एक नजर अधखुले पृष्ठों पर डालें।

पाषाणकालीन सभ्यता

जैन विचार का शुभारंभ पाषाण काल में हुआ। नृतत्व शास्त्रियों का अनुमान है कि 'आज से 6 लाख वर्ष पूर्व पाषाण युग आरम्भ हुआ और तब से लेकर आज से लगभग 10 हजार वर्ष पूर्व तक पाषाणकालीन सभ्यता के

अवशेष स्थिर रहे।[2] इसी कालावधि में नयसार नामक एक व्यक्ति हुआ। उसने एक दिन हिंस्र पशुओं से भरे जंगल में दो भूखे–प्यासे लोग देखे। वह बड़ी देर सोचता रहा कि इनके लिए क्या करूँ? फिर प्रकृति में कृति मिलायी और कठिन कर्मों से संचित अपना दाना–पानी उन्हें दे दिया। यह दिये जाने की प्रक्रिया सम्पन्न होने के साथ खिलाकर खुश होने वाली सभ्यता का श्रीगणेश हुआ।[3]
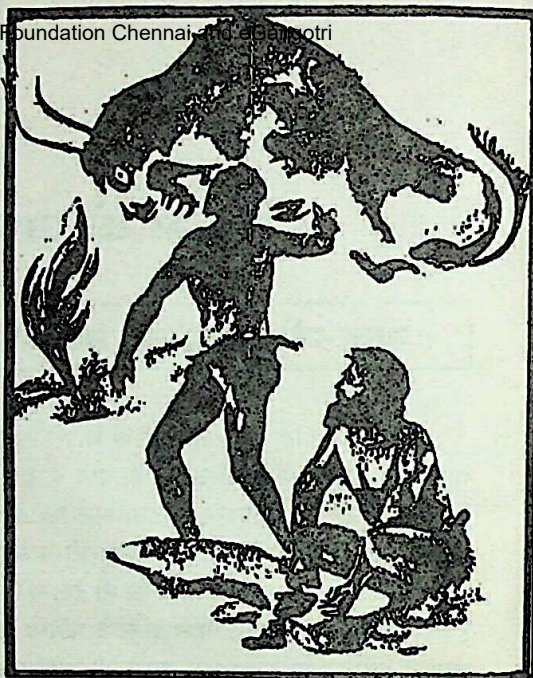
आदि मानव

खाकर खुश होने वाले लोगों के लिए नयसार तक पहुँचना आसान नहीं है। जैन इतिहास ऋषभदेव से आरंभ होता है, जबकि महावीर के जन्म जन्मान्तर की कथा का उद्गम स्रोत नयसार है, जो भूखों–प्यासों को खिलाकर खुश हुआ। 'होने' की इस क्रिया के तहत उसने सम्यक्त्व उपलब्ध की। सम्यक्त्व जैनों की ऐसी अवधारणा है, जिसके अभाव में सत्प्रवृत्तियाँ नहीं होती। सम्यक्त्व से संवेदना एवं सहभागिता बढती है। यह मानवता का उत्स है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि पशुओं में है और मनुष्यों में भी है। लेकिन पशुओं से मनुष्य को वैशिष्ट्य प्रदान करने वाली दृष्टि है - सम्यक्त्व, जिससे सृष्टि में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का भाव मूर्त होता है।

नयसार बढ़ईगिरी करता था! उसने चन्दन की लकड़ियों पर कारीगरी की - इत्यादि कथा–प्रसंगों से ज्ञात होता है कि 'वह उन दिनों विद्यमान था, जब गुफाओं और नदी छोहड़ों का त्याग कर मनुष्य ने नदी, तल और पहाड़ियों की समतल पीठों पर अपना मकान बनाने का प्रयास किया।[4] स्थापत्य (भवन निर्माण) कला का वह प्रथम प्रयोग था।

उत्तर पाषाणकालीन प्रगति

पाषाणकाल के अन्तिम दिनों में धातुओं का आविष्कार और उनका सीमित उपयोग आरम्भ हो गया था।[5] तब कुल बने। उनके मुखिया कुलकर कहलाये। कुलकरों को मनु भी कहा गया है। पाषाणकालीन 14 मनु हैं :–

1. प्रतिश्रुत : जिन्होंने सूर्य और चन्द्र की भक्ति आरम्भ की।
2. सन्मति : जिन्होंने नक्षत्रों और तारिकाओं का ज्ञान दिया।

3. क्षेमंकर : जिन्होंने वन्य पशुओं को पालतू बनाना सिखाया।
4. क्षेमंधर : जिन्होंने दण्ड–पाषाण का प्रयोग करना सिखाया।
5. सीमंकर : जिन्होंने क्षेत्र–निर्धारण किया और सीमातिक्रमण करने वालों के लिए हाकार (हें, यह क्या किया) नीति आरम्भ की।
6. सीमंधर : जिन्होंने वैयक्तिक सम्पत्ति की सीमा तय की और अपराध रोकने के लिए माकार (मत करो) नीति बनायी।
7. विमलवाहन : जिन्होंने हाथी आदि पशुओं का सवारी के लिए उपयोग करना सिखाया।
8. चक्षुष्मान् : जिन्होंने दीर्घजीवी होने की कला हस्तगत की।
9. यशस्वन् : जिन्होंने संतान से स्नेह करना सिखाया।
10. अभिचन्द्र : जिन्होंने पालन–पोषण पर विशेष ध्यान दिया।
11. चन्द्राभ : जिन्होंने अपराधी के लिए धिक्कार (भर्त्सना) नीति का प्रयोग किया।
12. मरुदेव : जिन्होंने कर्म करने का कौशल सिखाया।
13. प्रसेनजित : जिन्होंने सद्यजात शिशु की जरायु हटाने आदि पारिवारिक उन्नति के आयाम खोजे।
14. नाभिराय : जिन्होंने स्वतः उत्पन्न शालि, जौ, तिल आदि भक्षण करने की विधि सिखायी।[6]

खेद प्रदर्शन, निषेध और तिरस्कार से समाज व्यवस्था चलाना मुश्किल हुआ, तब नाभि ने अपने पुत्र ऋषभ को शासक बनाया।[7]
शासन क्षेत्र **हिमवर्ष** कहलाया।

प्राग् वैदिक काल का दर्शन

नाभि–नन्दन ऋषभ ने शासन–सूत्र का सम्यक् उपयोग किया। वे **असि** (शस्त्र कला), **मसि** (शास्त्र कला), **कृषि** (उत्पादन कला) के विशेषज्ञ थे। इक्षु रस प्राप्त करने और खेती में पशुओं को सहयोगी बनाने सम्बन्धी उनके विशेष प्रयोग हुए। एक बालिका आश्रयविहीन हो गयी, तब उसे पत्नी के रूप में स्वीकारने हित वैवाहिक प्रथा प्रचलित की। भरत, बाहुबलि जैसे वीर पुत्रों व ब्राम्ही, सुन्दरी जैसी विदुषी पुत्रियों के सहयोग से उन्होंने अनेक विधाएँ आविष्कृत कीं। अयोध्या

उठते प्रश्न
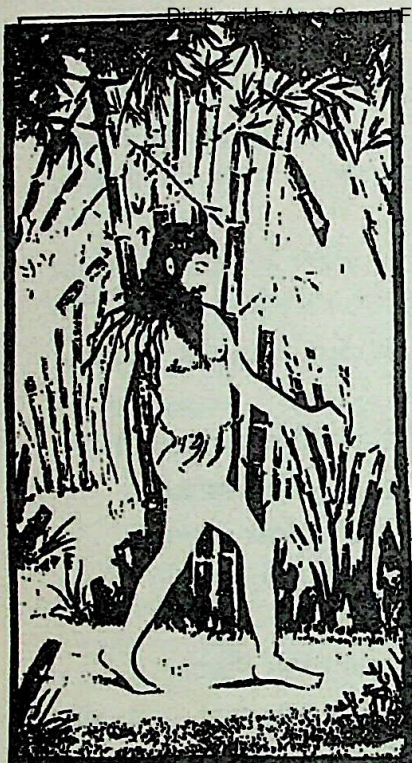
बसायी, जिसे आदितीर्थ तथा मोक्षदायिनी पुरियों में प्रथम स्थान प्राप्त है।[8] अयोध्यावासियों को कला–कौशल व शस्त्र–शास्त्रों का प्रशिक्षण दिया। फिर ऋषि बनने से पूर्व ऋषभ ने भरत को अयोध्या का राजा बनाया तथा अन्य पुत्रों को अलग–अलग स्थानों का राज सौंपा। उनके सौ पुत्र थे।[9] उस समय हर छोटा शहर, जिसमें कुछ गाँव और खेत होते थे, एक राज होता था।[10] राजा अपने प्रभाव–क्षेत्र में बसने वालों की व्यवस्था करता था। जो व्यवस्थापक कमजोर हुआ, उसे भरत ने संभाला। भरत का प्रभाव क्षेत्र बढ़ा। राज्य सीमा विस्तृत हुई। वह पहला भारतीय शासक था। राष्ट्रकवि दिनकर के शब्दों में 'ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष है।'[11] अग्निपुराण, मार्कण्डेय पुराणादि में भरत का और भी स्पष्ट परिचय दिया गया है कि ऋषभ से भरत की उत्पत्ति हुई और भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।[12]

ऋषि ऋषभ

भरत के भाई न दीन थे, न दर्पी (अभिमानी)। उन्हें अपनी–अपनी मर्यादा पसन्द थी। वे भरत का शासन क्यों मानते? सीधे पिता के पास पहुँचे और राज्य की स्थिति बतायी। ऋषभ ने उन्हें स्वराज्य प्रदान किया। ऋषभ उन दिनों संयम साधना कर यह जान चुके थे कि 'राज्य की मोहकता तब तक रहती है, जब तक व्यक्ति स्वराज्य की दिशा में नहीं चला जाता। एक संयम के बिना व्यक्ति सब कुछ पाना चाहता है। संयम आने पर कुछ भी पाये बिना सब कुछ पाने की कामना नष्ट हो जाती है।'[13] कामनाजयी ऋषभ ने इस तरह संयमधर्म का प्रवर्तन किया। उनके विचार सुनकर प्रव्रजित पुरुष **श्रमण** और महिलाएँ **श्रमणियाँ** कहलायीं। जिन्होंने अपने घर–गाँव में रहकर संयम पालने का व्रत लिया, उन्हें **श्रावक** तथा **श्राविका** माना गया। जैन मान्यतानुसार ये चार **तीर्थ** हैं : श्रमण, श्रमणी, श्रावक व श्राविका। जिस दिन तीर्थ स्थापित हुआ, उसी दिन ऋषभ को जैन धर्म का आदि **तीर्थंकर** कहा जाने लगा। वे जीवन भर अहिंसा तथा तपश्चर्या के मार्ग पर बढ़ते रहे। उन्होंने जैन धर्म का पथ प्रशस्त किया।[14]

जैन धर्म मात्र साधना सूचक शब्द है। वस्तुतः यह **श्रमण संस्कृति** है। इस संस्कृति में पले–फले लोग अपने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक हितों के संरक्षण के लिए भी युद्ध करना पसन्द नहीं करते थे। अहिंसा उनके जीवन व्यवहार का प्रमुख अंग थी।[15]

श्रमण नेता ऋषभ का समय डॉ. सम्पूर्णानन्द ने 25 हजार वर्ष पूर्व का माना है, किन्तु जैन इतिहास लेखक उन्हें 42 हजार वर्ष पूर्व हुआ मानते हैं।[16] उस युग में जैनों के 20 तीर्थंकर और हुए, जिनके नाम हैं:

1. अजित	2. सम्भव
3. अभिनन्दन	4. सुमति
5. पद्मप्रभु	6. सुपार्श्व
7. चन्द्र प्रभु	8. सुविधि
9. शीतल	10. श्रेयांस
11. वासुपूज्य	12. विमल
13. अनन्त	14. धर्म
15. शान्ति	16. कुन्थू
17. अर	18. मल्लि
19. सुव्रत	20. नमिनाथ

डॉ. ज्योति प्रसाद जैन का अभिमत है कि ऋषभ निर्माण के बहुत समय उपरांत अयोध्या में ही इक्ष्वाकु वंशी काश्यप गोत्रीय राजा जितशत्रु की रानी विजया की कुक्षि से दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का जन्म हुआ। तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ भी इसी वंश के थे। उनका जन्म स्थान श्रावस्ती था। चौथे और पाँचवे तीर्थंकर अभिनन्दन और सुमति नाथ अयोध्या में ही पैदा हुए। छठे पद्मप्रभु का जन्म कौशाम्बी में तथा सातवें सुपार्श्व का जन्म वाराणसी में हुआ। वाराणसी से करीब 23 कि.मी. दूर गंगा के किनारे बसी चन्द्रावती
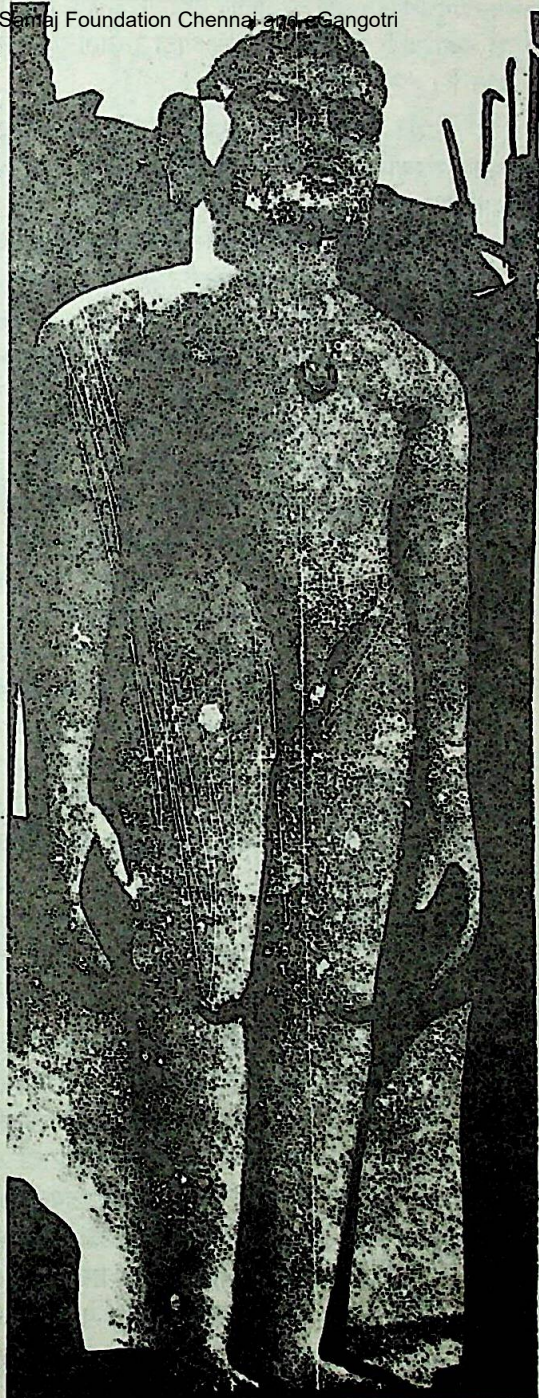
तीर्थंकर ऋषभदेव : अयोध्या

चन्द्रप्रभु की जन्मभूमि है। सुविधि नाथजी काकंदी में पैदा हुए। तीसरे से नवम् यानी 7 तीर्थंकर सिन्धु घाटी सभ्यता काल के रहे प्रतीत होते हैं।

अष्ट–जिनेन्द्र–स्तम्भ, इलाहाबाद, रा. सं. लखनऊ

दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ से 15वें तीर्थंकर धर्मनाथ तक श्रमण संस्कृति अप्रभावी रही। यहाँ तक कि कुछ काल तक श्रमण धर्म और मुनि धर्म का विच्छेद हुआ, जिसे जैन अछेरा (अनहोनी घटना) मानते हैं। तदनंतर चन्द्रवंश की कुरुशाखा के शांतिनाथ, कुंथूनाथ, अरनाथ हस्तिनापुर में पैदा हुए, जो अपने–अपने समय के चक्रवर्ती रहे और बाद में साधना कर 16वें, 17वें, 18वें, तीर्थंकर कहलाये। इनके कारण जैन धर्म का पुनः उत्कर्ष हुआ। मिथिला में मल्लिनाथ, राजगृही में मुनि सुव्रत और मथुरा में नमिनाथ का जन्म हुआ। जैन पद्मपुराण अथवा जैन रामायणों में इन महापुरुषों के पुण्य चरित्र विस्तार के साथ वर्णित हैं।[17] वर्णन में एक बात विशेषोल्लेख्य है कि ऋषभ के आचार–विचार और शेष तीर्थंकरों के आचार–विचार में भिन्नता थी। उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषभदेव प्राग्वैदिक युग के थे, जिनका समय ई.पू. 42 से 25 हजार वर्ष के बीच रहा। दूसरे से नवम् तीर्थंकर सिन्धु घाटी सभ्यताकालीन थे। वे ई.पू. 25 हजार वर्ष से 10 हजार वर्ष के दौरान हुए। दशम् से 20 वें तीर्थंकर का समय ई. पू. आठवीं सदी के पहले तक निर्धारित होता है। 'यह समय ऋग्वेद से लगभग दो हजार

वर्ष पूर्व अवश्य रहा होगा।'[18] ऋषभदेव का उल्लेख ऋग्वेद में है। आदिपुराण में उन्हें सतयुग का प्रारम्भकर्ता माना गया है।[19] भागवत् ने उनकी गणना विष्णु के दस अवतारों में की है।[20] यह प्राग्वैदिक काल से वैदिक काल के बीच हुए मनीषियों की जीवन-विधा में समन्वय स्थापित करने वाली मान्यता प्रतीत होती है।

हड़प्पा खुदाई में प्राप्त मानवाकृति

सिन्धु सभ्यता काल की देन

प्राग्वैदिक काल से सिन्धु घाटी सभ्यता–काल के बीच उत्तरोत्तर विकसित होने वाले भारतीय कौन थे? परिव्राजकों तथा व्रात्यों की वह संतति क्या द्रविड़ थी? जिसकी ओर पं. जवाहरलाल नेहरू ने अंगुलि निर्देश किया है। उन्होंने लिखा है कि 'हिन्दुस्तान की सबसे पुरानी कौम, जिसका हाल हमें मालूम है, द्रविड़ है। उसकी एक अलग जबान थी और वे दूसरी जाति वालों के साथ व्यापार आदि किया करते थे।[21] सर ज्होन मार्शल ने सिद्ध किया है कि

सिन्धु सभ्यता आर्यों की वैदिक सभ्यता से बिल्कुल ही भिन्न तथा उनसे प्राचीन सभ्यता थी। सिन्धु सभ्यता का विनाश आक्रान्ता आर्यो की हिंसक प्रवृत्तियों के कारण हुआ, ऐसा अनुमान है। देशी–विदेशी शोधकर्ताओं के विचारों का अध्ययन करने के उपरांत श्री जी सी. पाण्डेय ने यह मत स्थिर किया है कि पश्चात्कालीन भारत में प्रचलित धार्मिक जीवन तत्वों में से कुछेक सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व सिन्धु सभ्यता की ही देन है। इनमें उल्लेखनीय हैं : शिव सदृश देव की पूजा, देवी माता की पूजा, पीपल वृक्ष की पूजा, वृषभ की पूजा और कुछ एक देवों से सम्बन्धित अन्य पशुओं की पूजा।[22]
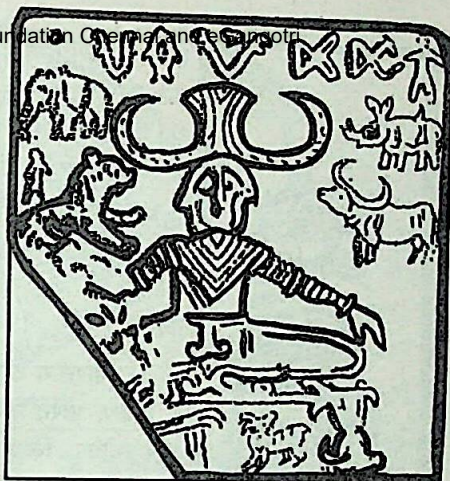
पशुओं से घिरे पशुपतिनाथ

जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों के साथ वृषभ, हाथी, घोड़ा, बानर, गेंडा, भैंसा, सूअर, हरिण, सिंह, सर्प, बकरा, क्रौंच पक्षी, बाज पक्षी, कच्छप[23] आदि का होना जहाँ उपरोक्त मत की पुष्टि करता है, वहीं मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से प्राप्त अवशेषों का अध्ययन करने वाले भी मूर्तियों के अध्ययन से वैसे ही संकेत देने लगे हैं।

सिन्धु सभ्यता के विभिन्न स्तरों से प्राप्त सामग्री तथा काल-निर्णय के परिप्रेक्ष में उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार यह सभ्यता ई.पू. 3250 से 1500 ई.पू. तक रही। इस सभ्यता के अभ्युदय से पूर्व भारतवर्ष के परिचायक भरत के उत्तराधिकारियों की 43–44 पीढ़ियाँ कम से कम 1200 से 1500 वर्ष पूर्व शासन कर चुकी थीं। मार्शल, मैके, फ्रेंक फर्ट, ह्विलर, आलब्राइट आदि विदेशी विद्वानों ने उनकी उपेक्षा की है। हस्तिनापुर के उत्खनन की रिपोर्ट में पुरातत्वविद् अमृत पंड्या ने यह तो स्वीकार किया है कि पुराणादि इतिहास से सहस्रों वर्षों की जानकारी मिलती है, परन्तु उस इतिहास की सत्यता जब तक पुरातत्व की खोजों व खुदाइयों द्वारा प्रमाणित न हो जाय, तब तक दुनिया इसको इतिहास नहीं मान सकती। श्री गणपति शंकर जैसे मंथनकर्ताओं ने इस पर सीधा सवाल खड़ा किया है कि दुनिया के विद्वान् हमारे इतिहास को मान्यता दें या हम इतिहास को रेखांकित करें ? हमारे पास प्राग् वैदिक काल की ऐतिहासिक सामग्री है, तब हम पश्चिमी विद्वानों के निर्णयों को ब्रह्मवाक्य क्यों मान लें ? भारतीय साक्ष्य के अनुसार भरतों के बाद **सूर्यवंशी चन्द्रवंशी** राजाओं का बोलबाला रहा।[24] अनुमान यह है कि 8 हजार वर्ष ई.पू. सूर्य की पूजा करने वाली मनु संतति भारत से बाहर (मिस्र, इराक, बेबिलोनिया, अजर बेजान (आर्य वीरान ?) आदि देशों की ओर गयी। उसी की 15–16 पीढ़ी बाद के तरुणों ने लौटकर चन्द्रवंशी शासकों से संघर्ष किया, जो देवासुर संग्राम
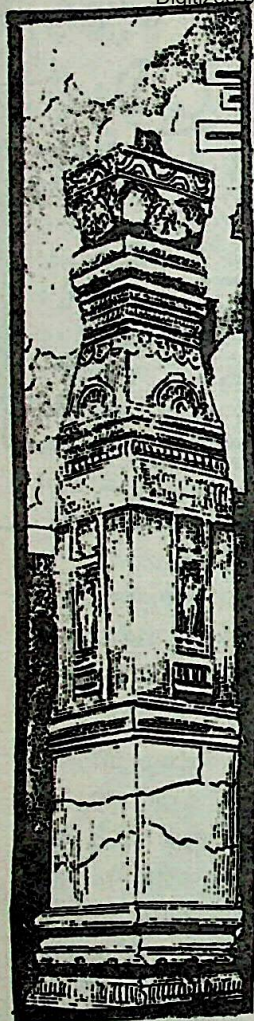
एलोरा

की कथा बन गया है। सूर्यवंशी विजयी रहे और चंद्रवंशियों की पराजय हुई। पराजित लोग न जंगली थे, न अनाथ थे, न दास थे। उनकी पहचान व्रात्य या द्रविड़ के रूप में रही, जो दक्षिण में जाकर बसे। आर्यों का पहला दल भारत आया, उसने मगध में व्रात्य सभ्यता को जन्म दिया। फिर वेदों की रचना करने वाले आये। उन्होंने देखा कि मगधस्थ भाई उनसे कई बातों में भिन्न हो गये हैं तो उन्होंने अपने साहित्य में व्रात्यों की निन्दा की।[25]

भारतीय वास्तुकला के अध्येता प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी ने दक्षिण भारत का मन्दिर–वास्तु 'द्रविड़ शैली' का माना है और स्वीकार किया है कि चालुक्यों के समय तक कर्नाटक में निर्मित अनेक मंदिरों में द्रविड़ स्थापत्य का रूप मिलता है। बादामी पर्वत को काटकर बनाया गया एक विशाल जैन मन्दिर उल्लेखनीय है। इस मन्दिर में विभिन्न अलंकरणों को तथा जैन देवी–देवताओं की प्रतिमाओं को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रदर्शित किया गया है। बादामी तथा पट्टकला के अनेक जैन मन्दिर अठ पहलू शीर्ष वाले हैं। द्रविड़ स्थापत्य की यह एक विशेषता है। राष्ट्रकूटों के शासनकाल में निर्मित एलोरा के जैन मन्दिरों की चर्चा करते हुए बाजपेयीजी ने इन्द्रसभा नामक जैन प्रासाद की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट किया है, जिसमें चट्टान को काटकर बनाये गये दरवाजे से प्रवेश करते हैं। प्रासाद का प्रांगण 50 फुट वर्गाकार है। प्रांगण के मध्य में एकाश्म या इकहरे पत्थर का बना हुआ द्रविड़ शैली का मन्दिर है।[26]

इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पर्वतों को काटकर मन्दिर बनाने की प्रथा सिन्धु सभ्यता काल में आरम्भ हुई थी, जो किसी न किसी रूप में अब तक देखने को मिलती है। उसके बाद 'भूमिज मन्दिर' बनने लगे जो समतल भूमि पर ईंट–पत्थर से बने दिखाई पड़ते हैं। प्राग्वैदिक पृष्ठभूमि के आलोक में सिन्धु सभ्यता के उत्थान और पतन का परिचय चन्द्रवंशी कुरु शाखा कुलोत्पन्न शांतिनाथ, कुंथूनाथ, अरनाथ तक के जीवन–प्रसंगों से मिल सकता है। भारतीय दृष्टिकोण तो यह है कि द्रविड़ लोग भी बिगड़े हुए आर्य हैं। रावण पुलस्त्य ऋषि का नाती था, फिर भी उससे संघर्ष रहा। वेदों में शत्रुओं से संघर्ष की बात अवश्य आती है, किन्तु वह बिगड़े हुए आर्यों से भी हो सकता है।[27] ब्राह्मण–दर्शन के प्रभाव से बाहर हो जाने वाली क्षत्रिय जातियों को मनुस्मृति में वृषल तथा दस्यु कहना तो तत्कालीन जैन तीर्थंकरों को गाली देने जैसा अभिप्राय प्रतीत होता है।[28] ऋषभदेव को अवतार मान लेने के बाद भी जैन तीर्थंकरों की स्वतंत्र अस्मिता और उनके बढ़ते प्रभाव
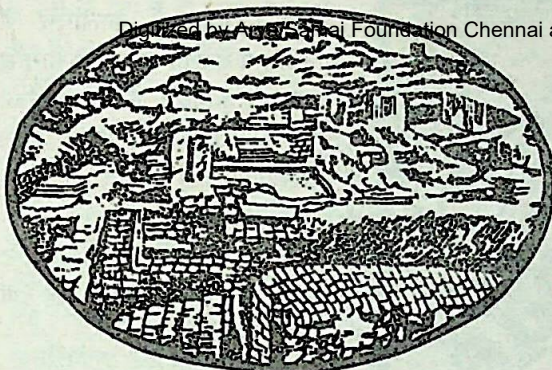
मोहनजोदडो से प्राप्त स्नानागार

से बौखलाकर सम्भव है, 'खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे' की उक्ति के अनुसार इस तरह शास्त्रों की आड़ में विरोध व्यक्त किया गया हो, जैसा कि अब तक बुद्ध को अवतार मानकर भी बौद्धधर्म के प्रति विरोधी रुख है। 'सिन्धु सभ्यता काल में जैनधर्म की कल्पना करना अनुचित न होगा–[29] जैसी अवधारणा के बाद अब उचित यही होगा कि तत्कालीन रहन–सहन, आर्थिक और आध्यात्मिक जानकारी के तहत अपना मौलिक मत बनायें।

चतुर्युगी में फैला वैदिककाल

भारतीय अनुश्रुति के अनुसार लगभग 6 हजार वर्ष पूर्व मध्य देश में मनु और उनके वंशजों का उद्‌भव हुआ। मनु इस देश के पहले राजा थे। उनका पुत्र इक्ष्वाकु अयोध्या के राज सिंहासन पर बैठा। उसकी 65 पीढ़ियों का उल्लेख कालिदास ने रघुवंश में किया है। डॉ. राजबलि पाण्डेय के शब्दों में 'पुराणों' में अयोध्या की जो वंशावली दी हुई है, उसकी अठारहवीं–उन्नीसवीं पीढ़ी से प्रायः वैदिक मंत्रों की रचना प्रारम्भ हो गयी थी और अड़सठवीं पीढ़ी (राजा सुदास) और उनके बाद दो–तीन पीढ़ी तक यह कार्य होता रहा। वेदों का अन्तिम संकलन, सम्पादन और वर्गीकरण महर्षि वेद व्यास ने किया, जो महाभारत युद्ध के समय जीवित थे।[30]

महाभारत में वर्णन है कि ब्रह्मा ने पहले शस्त्र और दण्डनीति की रचना की। बाद में नारायण की सहायता से एक राजा का निर्माण किया। उसका नाम पृथु था।[31] पौरव उसी के वंशज थे। पुरु ने अयोध्या पर चढ़ाई की, तब अयोध्या नरेश सुदास (इक्ष्वाकु की 68वीं पीढ़ी) से मात खायी। पुरुवंश के राजा दुष्यंत की रानी शकुन्तला के गर्भ

शकुन्तलात्मज भरत
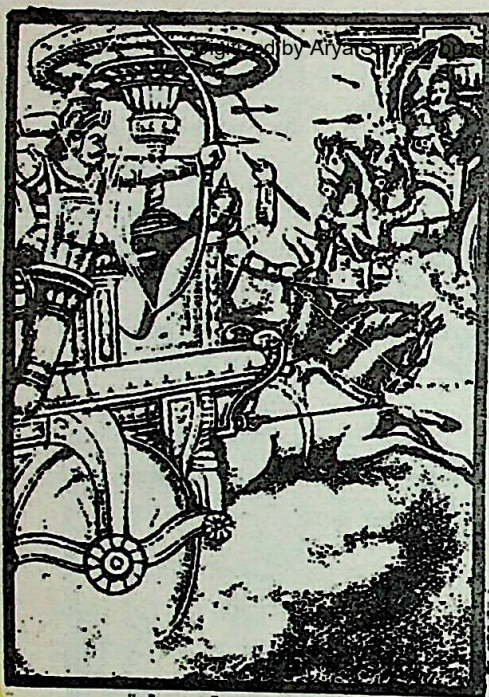
महाभारत युद्ध

से उत्पन्न भरत ने कालान्तर में 'गंगा–जमुना दोआब' के उत्तरी भाग से आगे बढ़कर अयोध्या को अपने कब्जे में लिया और दिग्विजय करके अपने समकालीन राजाओं पर सत्ता जमायी। भरत चक्रवर्ती सम्राट् कहलाया। उसका राज्य सभ्यता, विद्या और कला की दृष्टि से आदर्श था। इसी कारण से यह देश भारत कहलाया।[32]

ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष कहलाने वाला यह देश शकुन्तलात्मज भरत के समय भारत हो गया और भावात्मक एकता बनी रही।

श्री जयचन्द विद्यालंकार ने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में इक्ष्वाकु से पाण्डवों तक हुई 95 पीढ़ियों का वर्णन किया है। उनमें 1 से 40वीं पीढ़ी तक सतयुग, 41 से 65वीं पीढ़ी तक त्रेता और 66 से 95वीं पीढ़ी तक द्वापर माना है। उनकी स्थापना के अनुसार 2950 से 2300 ई. पूर्व तक सतयुग, 2300 से 1900 ई.पूर्व तक त्रेता और 1900 से 1425 ई. पूर्व तक द्वापर रहा। महाभारत युद्ध 1424 ई.पू. हुआ और फिर 1388 ई.पू. कलियुग आरम्भ हुआ। पार्जीटर, सीतानाथ प्रधान, राय चौधरी आदि विद्वानों ने वैवस्वत मनु से राम तक, राम से युधिष्ठिर तक और युधिष्ठिर से विक्रमादित्य तक काल निर्णय किया, जिसके अनुसार सतयुग में 45 पीढ़ियाँ स्वयंभुव मनु से वैवश्वत मनु तक, त्रेता में 14 पीढ़ियाँ मनु से राम तक, द्वापर में 39 पीढ़ियाँ राम से युधिष्ठिर तक हुईं। महाभारत संग्राम का समय ई.पू. 1277 माना है।[33]

यूनानी लेखकों ने चन्द्रगुप्त से पूर्व 154 राजवंशों का वर्णन किया है। उनका शासनकाल 6457 वर्ष लगाया है। वही जेकोबी और लोकमान्य का समय बैठता है।[34] डॉ. सम्पूर्णानन्द ने काल निर्णय पर विचार करते हुए वेदों को 25 हजार वर्ष से भी पूर्ववर्ती माना है। उनका अनुमान है कि सभी मंत्र 18 से 25, 30 सहस्र वर्ष पुराने नहीं हैं, किन्तु मंत्रों की पुष्ट काव्य–शैली से पता चलता है कि उसके पीछे बहुत लम्बा साहित्यिक इतिहास होगा। कालान्तर में प्राचीन रचनाएँ नष्ट हो गयीं, किन्तु उनमें जो स्मृतियाँ सुरक्षित थीं, वे नयी ऋचाओं से अनुस्यूत हुईं। डॉ. सम्पूर्णानन्द के विचारों के परिप्रेक्ष्य में डॉ. मुनि नगराज का यह मत विचारणीय हो जाता है कि जैन धारणा के अनुसार वैदिक संस्कृति भी श्रमण संस्कृति से बहुत दूर की वस्तु नहीं रही है। ऋषभनाथ

स्वामी के युग में ही भरत चक्रवर्ती ने उनकी वाणी को चार वेदों के रूप में संकलित किया और उसने ही ज्ञान दर्शन और चरित्र के प्रतीक **यज्ञोपवीत** का **प्रवर्तन** किया। वे वेद बहुत वर्षों तक श्रमण संस्कृति के आधार ग्रंथ रहे। धीरे–धीरे रूपान्तर पाते हुए एक स्वतंत्र संस्कृति के आदि शास्त्र बन गये।[35] विरोध में अविरोध खोजने की मानसिकता रखकर चिर अतीत को अनावृत्त करने वाली यह दिशा–दर्शक दृष्टि है। इसके सहारे 6 हजार वर्ष का समय 60 हजार वर्ष में फैल जाता है। वेदों में वर्णित भौगोलिक सामग्री के आधार पर जो वर्णन आये हैं, वे 60 हजार वर्ष पुराने हो सकते हैं, क्योंकि जहाँ तब समुद्र था, वहाँ अब पहाड़ और रेगिस्तान है।[36] राजस्थान के रेगिस्तान को हरा–भरा बनाने का उपक्रम किया जा रहा है, वैसे ही उत्तरोत्तर विकास की हरियाली क्यों नहीं खोजी जा सकती ?
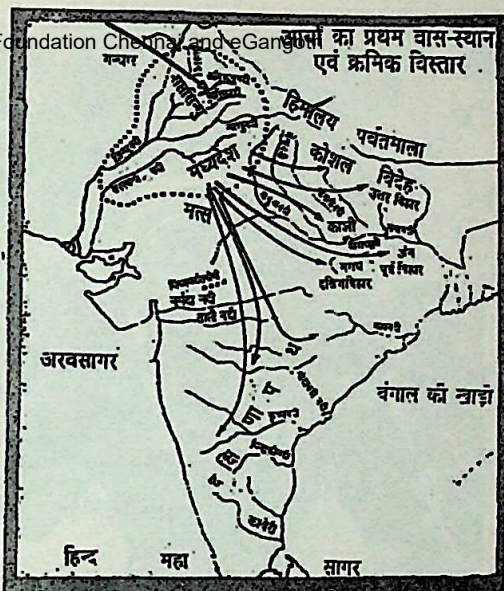
आधुनिक विचारकों की स्थापना के अनुसार लगभग 6 हजार वर्ष पूर्व एशिया से कश्मीर के पहाड़ पार कर आर्य भारत में आये।[37] फिर आर्यों के दल उत्तर–पश्चिम से भी आये। उनका निवास स्थान अफ़गानिस्तान और पंजाब था। वह भू–भाग ब्रह्मावर्त कहा जाता था। वहाँ से आर्य मध्य देश की ओर बढ़े तथा गंगा–जमुना के भू–भाग पर काबिज हुए। तब यह आर्यावर्त कहलाया। 'आर्यों' के भारत पर आक्रमण के समय जो अनार्य लोग यहाँ पर थे, वे अत्यधिक सभ्य थे। उनके तथा आर्यों के बीच संघर्ष हुआ था।[38] इन्द्र की दास और दस्युओं के साथ लड़ाई आर्यों और अनार्यों के बीच संघर्ष के रूप में मानी गयी है।[39]

द्वन्द्वात्मक स्थिति

संघर्ष के बाद संवाद शुरू हुआ। 'उस समय भारतीयों के मन में जगत् की उत्पत्ति के पूर्व उसकी स्थिति, जगत् की उत्पत्ति, मनुष्य तथा अन्य प्राणियों और वस्तुओं की उत्पत्ति, वर्णाश्रम विभाग की उत्पत्ति के विषय में जिज्ञासाएँ जगीं। उपनिषद् काल में इस प्रकार की जिज्ञासा पर विचार करने के लिए विद्वानों की विशेष सभाएँ होने लगीं, जिनमें राजा और ऋषि, ब्राह्मण और क्षत्रिय समान रूप से भाग लेते थे। चिंतकों के तत्वज्ञान में एकरूपता नहीं, प्रत्युत अत्यंत विविधता थी। इनमें से कोई जग के मूल कारण का अन्वेषण करता था तो कोई आत्मा के सम्बन्ध में चिंतन करता था। उन्हीं चिंतकों में से किसी एक ने एक ईश्वर की कल्पना करके उसके और आत्मा के एकत्व का सिद्धान्त

तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के पार्श्व में कृष्ण, बलराम कंकाली टीला मथुरा (रा.सं. लखनऊ)

प्रतिपादित किया।[40] ईश्वर कर्तृत्व एवं आत्म-कर्तृत्व की विचारधाराएँ अस्तित्व में आयीं। श्रमणों ने आत्म कर्तृत्व का सिद्धांत स्वीकार किया और ब्राह्मण ईश्वर कर्तृत्व के पक्षधर बने। **श्रमण संस्कृति** के उन्नायकों में ब्राह्मणों का समान स्थान है, किन्तु ब्राह्मण संस्कृति ने अब्राह्मणों को दोयम दर्जा दे रखा है।

श्रमण पुरुषार्थ प्रिय थे, ब्राह्मण प्रकृति प्रिय। वे विश्व की नाना प्राकृतिक शोभा को देखकर प्रभावित हो जाते थे। अपनी तीव्र कल्पना के बल से वे नैसर्गिक शक्तियों में देवताओं की उत्पत्ति कर उन देवताओं को समस्त ब्रह्माण्ड या उसके अंश विशेष का अधिष्ठाता समझते थे। वे इन देवताओं के निकट अन्न, पुत्र, बल, सौभाग्य आदि सम्पदाएँ माँगते थे और विपद में रक्षा तथा शत्रुओं पर विजय की प्रार्थना करते थे।[41] उन्हीं के पौरोहित्य में राजा अश्वमेध, गोमेध, अजामेध आदि यज्ञानुष्ठान किया करते थे। ई.पू. 1424 में महाभारत युद्ध हुआ था, जिसमें 283 राजाओं के साथ 53 लाख 12 हजार 840 (अठारह अक्षोहिणी सेना) योद्धा मारे गये। 'मरने पर स्वर्ग और जीतने पर राज्य[42] पाना भी अरुचिकर हुआ। श्रीकृष्ण के देखते–देखते यदुवंशी भी आपस में लड़ मरे, तब कृष्ण–बलदेव के चचेरे भाई **अरिष्टनेमि** आगे आये। जैनों के 22 वें तीर्थंकर के रूप में उन्होंने द्वारिका से पुरी तक की पदयात्रा की। यात्रा के दौरान युद्ध पीड़ितों के घावों पर मलहम लगायी, विधवाओं के आँसू पोंछे, वृद्ध माता–पिताओं को सहारा दिया, अनाथ बालक–बालिकाओं की सुध ली। पराजितों की आत्मग्लानि दूर की और विजेताओं का उन्माद नियंत्रित किया। उनका अभियान उस समय आरम्भ हुआ, जब वे दुलहा बनकर राजमती को ब्याहने गये थे। तोरण द्वार से पहले उन्हें पशुओं की चीत्कार सुनायी दी। पूछने पर पता चला कि ये पशु बारातियों के स्वागतार्थ कटने वाले हैं। अरिष्टनेमि बिना ब्याहे लौटे और मांसाहार विरोधी प्रचार–प्रसार में जुट गये। संसार में[43] भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ करोड़ों की संख्या में निरामिष भोजी लोग हैं। लाखों जैनों के अलावा

करोड़ों भारतीयों का मांसाहार त्यागना संभव हुआ और आयु, बल, बुद्धि, आरोग्य प्रीतिवर्धक सात्विक आहार को लोकमान्यता मिली।[44] तत्व चिंतकों ने अपरा विद्या से श्रेष्ठ परा विद्या मान ली। साध्य साधन बदलने लगे। उपनिषद कालीन ऋषियों का स्वर फूटा–

वह आत्म तत्व विभिन्न विद्या से कथित,
एवं अविद्या से कथित है भिन्न वह।
यह तथ्य हमने धीर पुरूषों से सुना,
जिनसे हुआ इस तत्व का दर्शन हमें।।
विद्या अविद्या इन उभय के साथ में,
हैं जानते जो मनुज आत्म ज्ञान को।
इसके सहारे तर अविद्या से मरण,
वे प्राप्त विद्या से अमृत करते सदा।।[45]

योगाग्नि प्रज्वलित करने वाली साधनामग्न सती

धर्माधारित सामाजिक क्रान्ति

श्रमण राज्याश्रय से मुक्त रहे। उनकी चर्या अहिंसा, संयम, तप प्रधान थी। वैदिक संस्कृति की मुनि परम्परा भी श्रमण–विचार और आचार से प्रभावित रही, पर ऋषि स्वच्छन्द रहे। 'पीर बवरची भिश्ती खर' की उक्ति के अनुसार कभी वे सिद्ध सन्त के रूप में सामने आये और कभी श्राप देने वाले तपस्वी के रूप में। कभी उन्होंने गोसांई कहलाना पसंद किया और कभी पुरोहित। उनके द्वारा यज्ञ करने/कराने के विरोध में प्रजापति दक्ष के यहाँ सती खड़ी हुई और योगाग्नि में अपनी आहूति दी। इसके बाद भी वे नहीं चेते तो वीरभद्र जैसे शिव भक्त को यज्ञ ध्वस्त करना पड़ा।[46] वीरभद्र को शिव का गण माना जाता है और शिव काशीवासियों के आराध्य देव हैं। उस समय काशी खण्ड पर आर्यों का प्रभुत्व नहीं था। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में रचित मनुस्मृति में वैदिक सभ्यता के केन्द्र के रूप में मध्य देश का वर्णन आता है, वाराणसी का नहीं।[47] वैदिक युग के बहुत बाद तक भी काशीवासियों में धार्मिक कट्टरता की कमी थी। वे दूसरों की बातें सुनते थे और दूसरों के विश्वासों का आदर करते थे। इसलिए प्राचीन वैदिक दृष्टि में काशी की कोई धार्मिक महत्ता नहीं थी। आज हम काशी को प्राचीन वैदिक धर्म का केन्द्र मानते हैं, पर मनुस्मृति में तो भारतवर्ष का पवित्रतम क्षेत्र ब्रह्मावर्त था। काशी की कोई गिनती ही नहीं थी।[48] आर्य देवता महादेव आज वाराणसी में सबसे बड़े देवता हैं। अन्ततोगत्वा आर्यों को अपने देव मण्डल में महादेव को भी स्थान देना पड़ा। आर्यों ने अनार्यों के इस देवता को स्वीकार किया। यह तथ्य इस बात को सिद्ध करता है कि आर्येतर धर्म को आत्मसात् करने के लिए आर्यों ने इनके प्रमुख देवता को ही अपना लिया। आर्य धर्म की इस प्रदेश में आदि धर्म से टक्कर हुई और एक नवीन विचारधारा का अभ्युदय हुआ, जिसे हम उपनिषद्कालीन विचारधारा कहते हैं। औद्यालिक
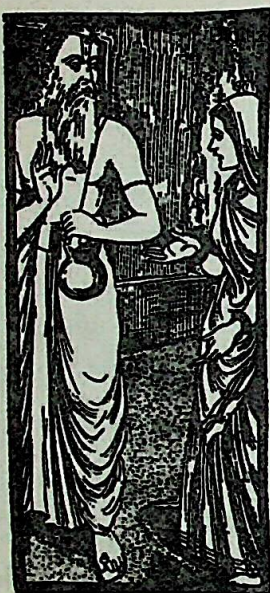
कृपालु वशिष्ठ

आरुणि के नेतृत्व में वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हुआ और उसी काल में परिव्राजकों की परंपरा का भी उदय हुआ।[49] वैदिक कर्मकाण्ड का आधार यज्ञ है।

विश्वामित्र यज्ञ रक्षार्थ अयोध्या से राम–लक्ष्मण को लिवा गये।[50] उन्हें जनकपुर सिया स्वयंवर मण्डप में पहुँचाया। वहाँ स्वयंवर मण्डप में सीता को लाने की प्रक्रिया वशिष्ठ ने पूरी करायी।[51] वशिष्ठ और विश्वामित्र यदि उपाधि सूचक नाम न थे तो लम्बी उमर वाले ऋषि थे। वशिष्ठ की कृपा से महाराज दिलीप को पुत्र प्राप्त हुआ था। पुत्र प्राप्ति या वैवाहिक सम्बन्धों में क्या ब्रह्मचारी सहायक हो सकते हैं? यही एक बिन्दु है, जिस पर जैन व अजैन वाङ्मय विभाजित है। प्रातःकालीन प्रार्थना में जैन सीता–सती का स्मरण करते हैं। वे गाते हैं–

राम रघुवंशी तेहनी कामिनी जनकसुता सीता सतीए।
जग सहु जाणे धीज धरंता अनल शीतल थयो शील थीए।।

शील संवर्धन के लिए सीता से प्रेरणा मिलती है, जो राम की अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण हुई। इतिहास में राम का समय निर्धारण कहाँ हो पाया है? सामान्यतः उन्हें पाँच हजार वर्ष पूर्व हुआ माना जाता है, किन्तु पुराण 14वें मन्वन्तर में हुआ बताते हैं। वाल्मिकी रामायण में राम का चरित्र उजागर हुआ है, किन्तु उस चरित्र को किस कवि ने नहीं सँवारा? वैदिक, जैन, बौद्ध कवियों के अलावा अनेक भाषा–भाषियों से रामकथा समृद्ध हुई है। हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, नेपाल, बर्मा, जावा, बालि, सुमात्रा, मलाया, थाईलैण्ड, मारिशस, बंगलादेश, इंडोनेशिया में राम के प्रति श्रद्धा रखने वालों की बड़ी संख्या है। दुनिया भर में प्राप्त ज्ञात रामायणों की जानकारी फादर कामिल बुल्के के शोध ग्रंथ 'रामकथा' से मिलती है। कथा भेद होते हुए भी वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक जीवन को मर्यादित बनाने की प्रेरणा सर्वत्र समान है। यही मानकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा भी है–

रामकथा के मिति जग नाहीं, अस प्रतीति जिन्हके मन माहीं।
नाना भाँति राम अवतारा, रामायण शत कोटि अपारा।।

वैदिक परंपरा जहाँ राम को अवतार मानती है, वहाँ जैन परंपरा ने वासुदेव लक्ष्मण के ज्येष्ठ बंधु के रूप में बलदेव माना है, जो जीवन के उत्तरार्ध में संयम ले सिद्ध हुए। दोनों परंपराओं की कथा का तुलनात्मक अध्ययन करने के हिमायती मुनि श्री महेन्द्र कुमार जी प्रथम ने कथा भेद को भी भली–भाँति रेखांकित किया है।[52] वैदिक परंपरा में राम को ब्रह्म स्वरूप दिया गया है, जिसका निर्वाह **'सियाराम मय सब जग जानी, करहु प्रणाम जोरि जुग पानी'** कहते हुए रामचरित मानस तक हुआ है। किन्तु जैन कवि राम का बुद्धिगम्य चरित ही गाते हैं। स्वयंभूकृत 'पउम–चरिउ' में कोणिक भगवान् महावीर से रामकथा कहने का अनुरोध करते हैं और जिज्ञासा के रूप में असंगतियों के बारे

में पूछते हैं कि रावण के दस मुख और बीस हाथ कैसे हैं? कुंभकरण छः महीने तक कैसे सोता था और करोड़ों महिष कैसे खा जाता था? रावण की पत्नी मन्दोदरी
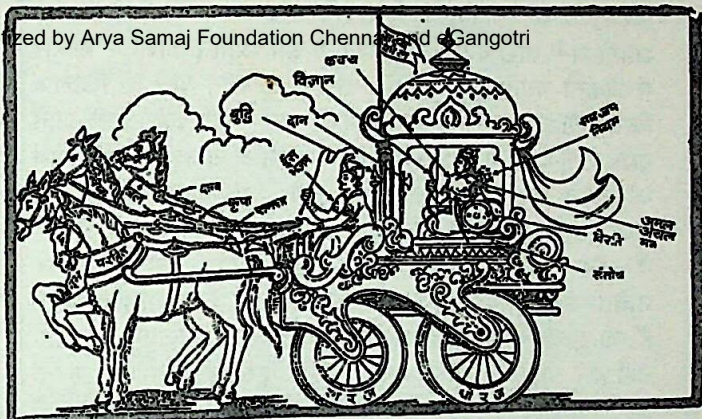
को विभीषण ने अपनी पत्नी कैसे बना लिया? महावीर उसी का जवाब देते हैं और रामचरित की कथावस्तु क्रमशः आगे बढ़ती है। न जैन रामायणों में अवसरवादिता को स्थान है, न अस्वाभाविक घटनाएँ हैं। **'रावण रथी विरथ रघुवीरा'** देखकर जब विभीषण अधीर हो उठता है, तब राम **'सखा धर्ममय असरथ जाके'** कहते हुए बोलते हैं—

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो वीर।
जाके अस रथ होई दृढ़ सुनहु सखा मति धीर।।

जैन रामायणें इसी विचार पर खड़ी हैं, जबकि इन पंक्तियों के रचयिता ने राम और विभीषण का संवाद समाप्त होने के साथ ही **'हरषि गहे कर बान कृपाला'** भी लिख डाला।[53] **'श्रीराम रावन समर चरित अनेक कल्प जो गावहीं'** लिखने वाले युद्ध मुक्त समाज के प्रति प्रतिबद्ध कैसे माने जा सकते हैं? कथा के पीछे कथा से मिलने वाली सिखावन से जो बेखबर हैं, उनके लिए शील, संयम, समाधि आदि का क्या महत्व है? कथा को साधन मानकर श्रमणों ने शील, संयम, समाधि का भाव दृढ़ किया, वहाँ दूसरे लोग विवाह, संघर्ष, शौर्य की चर्चा तक सीमित रह गये, जिसकी झाँकी वशिष्ठ, विश्वामित्र के चतुर्दिक् फैले आख्यानों में मिलती है। जैन रचनाकारों ने युद्धभूमि में भी योद्धा को युद्धमुक्त समाज में शामिल करने का संबल दिया, वैसा भाव अन्यत्र न होने से सामाजिक जीवन दुविधा ग्रस्त हुआ। क्या यह बात कभी रचनाकारों के ध्यान में आयेगी? 'जैन काव्यों के नायकों का लक्ष्य न तो महाभारत के समान खोये हुए राज्य को प्राप्त करना है और न रामायण के समान पैतृक अधिकार को ही पुनः हस्तगत करना है बल्कि उनके जीवन का लक्ष्य चिरंतन सौन्दर्य की उपलब्धि करना है। यह उपलब्धि काम भोगों के गुणात्मक परिवर्तन द्वारा निर्वाण या मोक्ष के रूप में परिवर्तित हो जाती है।'[54] कथाभेद के माध्यम से संस्कृतियाँ एक—दूसरे से आगे बढ़ने वाली दिशा दे सकती हैं और संघर्ष भी कर सकती हैं। यह संघर्ष तब सहयोग में बदलता है, जब उद्देश्य स्पष्ट हो। उद्देश्य की अस्पष्टता के कारण ही जब कहीं परंपरागत कथाभेद सामने आता है तो साम्प्रदायिक दंगे भड़कते हैं और कथाकार का सर कलम कर दिया जाता है। असंस्कृत समाज में यह चल सकता था, लेकिन संस्कृत समाज इसे कैसे बर्दाश्त कर सकता है? संस्कृति—असंस्कृति की कसौटी समाज के हाथ में होनी चाहिए। ऐसा होता तो क्या

काशी में दास-दासी जीवन की यंत्रणा भोगते हरिश्चन्द्र-तारामती

विश्वामित्र की संतुष्टि के लिए हरिश्चन्द्र जैसे अयोध्याधिपति को अपनी रानी तारा व पुत्र रोहिताश्व के साथ आकर काशी के बाजार में बिकना पड़ता ? बिकवाकर दक्षिणा ले जाने वाले के खिलाफ किसी की जबान नहीं खुली ! पीढ़ी-दर-पीढ़ी कही-सुनी जाने वाली ऐसी कथा ने ई.पू. 8वीं सदी में काशी के राजकुमार पार्श्वनार्थ को बेचैन कर दिया। वे सोचने लगे- यह कैसा धर्म है, जो राजा-महाराजाओं की अस्मिता के बल पर पुरोहितों को पालता है ? ये कैसे ऋषि-मुनि हैं, जो न्याय-अन्याय, योग्य-अयोग्य, उचित-अनुचित का भेद भी नहीं समझते? यह कैसा आभिजात्य वर्ग है, जो सत्यवादी का सहारा बनने के लिए अन्त्यज जितना भी त्याग नहीं कर पाता? पार्श्वनाथ ने दंभ और पाखण्ड का विरोध करना आरम्भ कर दिया। यज्ञ-याग समर्थक कैसे सहते? कमठ तापस की आड़ में उन्होंने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि राजकुमार को काशी से **महाभिनिष्क्रमण** करना पड़ा। सन्यस्त होने के बाद भी उनकी हत्या की कोशिश हुई, जिसे धरणेन्द्र-पद्मावती नामक नाग-दंपती ने निष्फल की। 23वें तीर्थंकर के रूप में नया समाज गठित करने निकले पार्श्वनाथ जहाँ भी गए, वहाँ हिंसा का त्याग करने वाले ब्राह्मण, शस्त्र-सन्यास लेने वाले क्षत्रिय, क्रूर व्यापार से विरत रहने वाले वैश्य और सेवा को साधना मानने वाले शूद्र जुड़े। उनका एक समाज बना, जो **महाजन** कहलाया। महाजन वस्तुतः धर्माधारित सामाजिक क्रान्ति की संतान हैं। कला, साहित्य, व्यवसाय, सेवा के क्षेत्र में उनके बहुआयामी योगदान को कौन नहीं जानता ? हर विधा में वे आगे रहे। उनके हस्ताक्षर हर क्षेत्र में मौजूद हैं।

महाजनों का इतिहास

पार्श्वनाथ ने अधिक समय अनार्य क्षेत्र में घूमने, नागाओं से सम्पर्क साधने, पिछड़ी जातियों का विश्वास-भाजन बनने में लगाया। वे कश्मीर से कर्नाटक और कलिंग से कच्छ तक सारे देश में घूमे। कहा जाता है कि वे तिब्बत भी गये थे। स्वयं क्षत्रिय होने के कारण देश के राजन्य वर्ग पर उनका प्रभाव पड़ा। बंगाल, बिहार, उड़ीसा की सामान्य जनता तो उनसे प्रभावित हुई ही, सराक, सद्भोम, रंगिया आदि जातियाँ हाल तक लाखों की संख्या में पार्श्वनाथ को अपना आद्य कुलदेवता तथा लोकदेवता मानती रही हैं। पार्श्वनाथ के उपदेश परम्परागत रूप से इनके जीवन के संस्कार बन गये हैं। इनका अहिंसा में पूरा विश्वास है। ये मांस भक्षण नहीं करते हैं। अष्टमी-चतुर्दशी को उपवास करते हैं। पार्श्वनाथ ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ अहिंसा का मेल बिठाया। इससे अहिंसा सामाजिक बनी, व्यावहारिक बनी।[55]

अहिंसक समाज संगठित करने का समय पार्श्वनाथ को नहीं मिला। यह काम उनके उत्तरवर्ती आचार्य स्वयंप्रभ सूरि, रत्नप्रभ सूरि आदि ने किया। उन्होंने **'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'** की उक्ति के परिप्रेक्ष्य में रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार में एकरूपता लाने हेतु चार नियम निर्धारित किये-

1. भोग–भूमि को कर्मभूमि में बदलने हेतु नित्य जागरूक रहना और श्रम करना।
2. जुआ, मांस, शराब, वेश्यागमन, परस्त्री संग, शिकार और चोरी छोड़ना।
3. दान, शील, तप, भावनापूर्वक समाज विकास करना।
4. अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि को पंच परमेष्ठी मानना।

नव समाज के निर्माता पार्श्वनाथ एवं उनके उत्तराधिकारी

महाजनों का चिंतन व चरित्र इतना उज्ज्वल रहा कि उपनिषद्कालीन ऋषियों ने उनका अनुकरण व अनुमोदन किया।[56] व्यक्ति, पंथ, ग्रंथ, राज्य, परंपरा से बँधे मनुष्य को ऊपर उठाने की दृष्टि से ये चारों नियम न केवल प्रासंगिक थे, वरन् चार वर्ण और चार आश्रमों की अवधारणा से बँटे व्यक्तित्व को समग्रता प्रदान करते थे। महाजन कर्मवीर थे, धर्मवीर भी थे। वे लाभ चाहते थे, शुभ भी। उन्हें ऋद्धि प्रिय थी, सिद्धि भी। भोग से त्याग को नियंत्रित रखने से भटकाव की गुंजाइश न थी। जहाँ पुरुषार्थ दिखाने का अवसर मिला कि तन–मन–धन लगा देते थे। गाथापतियों का चरित्र इस दृष्टि से पठनीय है। जैनागमो मे कई गाथापति स्थान प्राप्त हैं। समाज वैज्ञानिक की भाँति उनका मूल्यांकन कर महाजनों की तत्कालीन मनोदशा से अवगत हुआ जा सकता है। इतिहास का यह पृष्ठ अछूता–सा है। जिसे **इतिहास की अमर बेलः ओसवाल** आदि ग्रन्थों में निहित भावभूमि के सहारे खोलना संभव है। ओसवाल, श्रीमाल, अग्रवाल, पोरवाल, माहेश्वरी आदि की उत्पत्ति के बीज भी इन्हीं अछूते पृष्ठों पर जमी धूल से ढँके हैं। ये सब उन्हीं महाजनों की संतति हैं जिन्होंने सामुदायिक जीवन को रचनात्मक आयाम देने हेतु विचारपूर्वक जीवन व जीविका में परिवर्तन स्वीकार किया था, किन्तु परम्परा के व्यामोह में फँसकर ये फिर वैश्य बन गये। ओसवाल आदि सभी लोग अपने आपको वैश्य कहते हैं और मानते हैं कि हमारे पूर्वज क्षत्रिय थे। यह मान्यता उत्थान की सूचक है या पतन की?

पार्श्वनाथ राजपुत्र थे, वैसे ही खण्डेला नरेश के पुत्र सुजान कुँवर भी थे, जिन्हें यज्ञ में दी जाने वाली बलि देखकर व्यथा हुई। उन्होंने अपने साथी 72 राजपुत्रों के साथ मिलकर यज्ञ नष्ट कर दिया। यज्ञकर्ता ऋषि ने श्राप देकर उन्हें जड़ बना दिया, जो महेश के अनुग्रह से नव–जीवन पाये। वे सभी यज्ञस्थल के समीपस्थ कुण्ड में स्नान करने उतरे। वहाँ उनके सारे शस्त्र गल गये। यह क्रिया राजस्थान में रींगस स्टेशन

से 20–25 मील उत्तर में पहाड़ों के मध्य सम्पन्न हुई, वह स्थल आज भी 'लोहागल' कहलाता है। महेश से अनुगृहीत लोग माहेश्वरी हैं। वे मानते हैं कि उन 72 राजपुत्रों के नाम पर हमारी 72 खापें बनीं और कृपाण की जगह कलम–दवात धारण की।[57]" इस कथा से अहिंसा के प्रति प्रतिबद्धता की दुर्बलता सिद्ध होती है, जब कि जैनाचार्यों ने दुर्बलता पर विजय पाने के लिए ही अहिंसक समाज खड़ा किया था। जो उस समाज में सम्मिलित होता था, उसका पहचान सूचक गोत्र निर्धारित होता था और उसके साथ रोटी–बेटी के सम्बन्ध स्थापित होते थे। इसी कारण यह धारणा दृढ़ हुई है कि "जैनों के वैराग्य प्रधान मत और कृच्छाचार से जाति–पाँति का अधिष्ठान मजबूत हुआ, क्योंकि जिन लोगों ने हिंसा नहीं छोड़ी, उनके साथ क्षत्रियों से परिवर्तित होकर बने वैश्य समाज ने रोटी–बेटी का सम्बन्ध तोड़ लिया।"
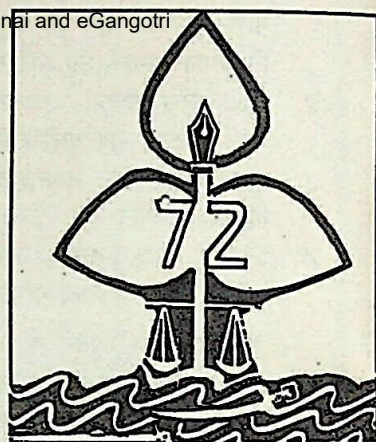
ओसवाल–समाज की उत्पत्ति जोधपुर से 32 मील उत्तर–पश्चिम में स्थिति ओसिया नगरी से हुई थी। इस जाति का गौरव उसके महान् विश्वभाव के सिद्धान्त के कारण ही है, जिसके वश होकर आचार्य रत्नप्रभसूरि ने उसकी स्थापना की थी। यही नहीं, इस जाति के महान् पुरुषों ने राजनीति, धर्मनीति और अर्थनीति में अपनी स्वतंत्र पहचान बनायी, आश्चर्यजनक कारनामे दिखाये तथा अपनी प्रतिभा और त्याग के बल से राजस्थान के मध्ययुगीन इतिहास को दैदीप्यमान कर दिया। रत्नप्रभसूरि के बाद अनेकानेक जैन आचार्यों ने इस जाति की उन्नति के लिए बहुत ही प्रभावशाली चेष्टाएँ कीं, जिनके परिश्रम से अनेक जातियों को ओसवाल में सम्मिलित कर नये–नये गोत्रों के नाम दिये गये। आचार्य रत्नप्रभसूरि पार्श्वसंतानीय होने के कारण ही जैन तीर्थों और तीर्थंकर प्रतिमाओं में सर्वाधिक तीर्थ और सर्वाधिक प्रतिमाएँ पार्श्वनाथ की ही मिलती हैं[58]।

जैन मान्यता के अनुसार पार्श्वनाथ के मस्तक पर पाँच फन का विषधर सर्प अपना आटोप छाये हुए है। किन्तु वे उससे अविघ्न अभय बने रहते हैं। यही पार्श्वनाथ की मृत्यु पर विजय है। उधर शिव के वक्षस्थल पर महासर्प लिपटा हुआ है। उनके कंठ में विष या काल है, किन्तु उनके मस्तक पर सोम या अमृत है। महापुरुषों की यही विशेषता होती है। उनका भौतिक शरीर नश्वर, किन्तु ज्ञान का आलोक अविनाशी होता है। इस प्रकाश प्रतिबिम्ब को जो भी चाहे, अपने हृदय में प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से तीर्थंकर या महापुरुष का जीवन इतिहास के साथ समाप्त नहीं होता। उसकी परंपरा चिरकाल तक जीवित रहती है।[59] इस परंपरा की दो धाराएँ हैं : एक धारा रूढ़िमूलक है, उसके साथ स्वभावतः संकीर्णता, असहिष्णुता तथा स्वार्थपरता का सम्बन्ध रहा है। दूसरी धारा उन महापुरुषों की है, जिन्होंने विशुद्ध अन्तर्दृष्टि और तपस्या के द्वारा धर्म

का साक्षात्कार किया और लोककल्याण की दृष्टि से जनता में बिना किसी भेद–भाव के उसका प्रचार और उपदेश किया[60]। इस उपदेश से काशी की धरती अनुप्राणित हुई। उस युग में काशी व्यापार का प्रमुख केन्द्र थी। गंगा नदी से ही अधिक व्यापार होता था। मित्र बिन्दक नामक एक ऐसा व्यापारी था, जिसने एक जहाज खरीद कर समुद्र यात्रा की ठानी और उसे समुद्र यात्रा में अनेक कष्ट उठाने पड़े। इस नगर में हाथी दाँत तथा उत्तरापथ के घोड़ों का खूब व्यापार होता था। काशी क्षेत्र अच्छी कपास खेती के लिए भी प्रसिद्ध था। स्त्रियाँ खेतों की रखवाली करती थीं। काशिक वस्त्र के उल्लेखों से सारा बौद्ध साहित्य भरा पड़ा है[61]। जैनागमों में भी काशी के श्रेष्ठियों की समाज सेवा के अनेक उदाहरण हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि काशी खण्ड में ही नहीं, भारत में भी जितने तालाब, कुएँ, धर्मशालाएँ, पाठशालाएँ या पुस्तक भण्डारों का निर्माण हुआ, उनमें महाजनों का सर्वाधिक योग रहा है। व्यसन मुक्त रहने व भोर की किरण से लेकर देर रात तक श्रम करने से वे जितना उपार्जन करते थे, उसका बड़ा भाग उपकार में लगाते थे, लेकिन जब उनमें संग्रहाशक्ति बढ़ी, तब उन्हीं के लिए 'पाणी पिये छाण के लोही पिये जाण के' जैसी उक्तियाँ बनीं। इसे धर्माधारित क्रांति की विफलता माना जाय या वर्णाश्रम धर्म की दुःखद परिणति?

'नमो महावीरस्य' लेखयुक्त धर्म चक्रांकित कुषाणकालीन आयागपट्ट (मथुरा सं.)

कर्तृत्व बोध

पार्श्वनाथ जैसे क्रांतदर्शी महापुरुष का तिरोधान होते ही परंपरावादियों को खुलकर खेलने का मौका मिल गया। वे श्रमणों का प्रभाव कम करने के लिए दुगुने उत्साह से यज्ञ–याग करने लगे। लाखों मूक पशु यज्ञ की बलि वेदी पर चढ़े। देवपूजा की आड़ में स्वस्थ, सुन्दर मनुष्य भी मारे गये। शूद्रों को अमानवीय यंत्रणाएँ दी गयीं। मातृ जाति को क्रीतदास बना दिया गया। जाति प्रथा ने मनुष्य को मनुष्य से विलग कर दिया। समाज की हालत बदतर हो गयी। तब ई.पू. 569वें वर्ष में महावीर मैदान में आये। वे जैनों के 24वें तीर्थंकर हैं। उनके धर्म–चक्र परिवर्तन ने जन–मन को झकझोरा और आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक जगत् की रचनाधर्मिता उभारी। कवि के शब्दों में कर्तृत्व बोध कराया।

अपने युग को हीन समझना, आत्महीनता होगी,
सजग रहो, यह भी दुर्दलता और दीनता होगी।
जिस युग में हम हुए, वही तो अपने लिए बड़ा है,
अहा! हमारे आगे कितना कर्म क्षेत्र पड़ा है।।"

महावीर अंग, बंग, कलिंग, मगध, विदेह, काशी, कौशल, अवंती की यात्रा के दौरान गिरी–कंदराओं में बैठे, गाँवों में रुके, नगरों में ठहरे। उन्हें अनुभव हुआ कि बाह्य पदार्थों के साथ अपनी प्रतिक्रिया जोड़ने से दुःख होता है। प्रतिक्रिया से मुक्त रहने के लिये वे अवनी, अम्बर, प्रकृति और प्राणों के बीच समता स्थापित करने लगे। वैज्ञानिक की भाँति उन्हें दीखा :-

- पृथ्वी से संबद्ध जीवन (सात लाख पृथ्वी काय)
- पानी से संबद्ध जीवन (सात लाख अप् काय)
- पावक से संबद्ध जीवन (सात लाख तेजस् काय)
- वायु से सम्बद्ध जीवन (सात लाख वायु काय)
- वनस्पति से सम्बद्ध जीवन (सात लाख प्रत्येक वनस्पति तथा चौदह लाख साधारण वनस्पति काय)
- इन्द्रियों से सम्बद्ध जीवन (दो लाख द्वीन्द्रिय, दो लाख त्रीन्द्रिय, दो लाख

चतुरिन्द्रिय, चार लाख नारकी, चार लाख देवता, चार लाख तिर्यंच पंचेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य जाति)

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि में भी मानव की तरह ही चैतन्य शक्ति है। सब आहार करते हैं, श्वासोच्छ्वास लेते हैं। उनका सारा व्यवहार स्पर्शनेन्द्रिय से होता है। वे ऐकेन्द्रिय हैं। जो पृथ्वी, मिट्टी, पत्थर, धातु तथा पानी, वायु और वनस्पति आदि किसी प्रकार उपघातित नहीं हुए, वे सभी चैतन्य से युक्त हैं। उनमें से पहले चार के शरीर का कद अधिकतम और न्यूनतम अंगुलि के असंख्यातवें भाग जितना है। वनस्पति के शरीर का कद न्यूनतम तो इतना ही, पर अधिकतम एक हजार योजन से कुछ अधिक है। इन सबके शरीर का आकार एक समान नहीं है। मिट्टी, पत्थर आदि पृथ्वी के शरीर का आकार मसूर के दाल जैसा अथवा चन्द्रमा जैसा होता है।
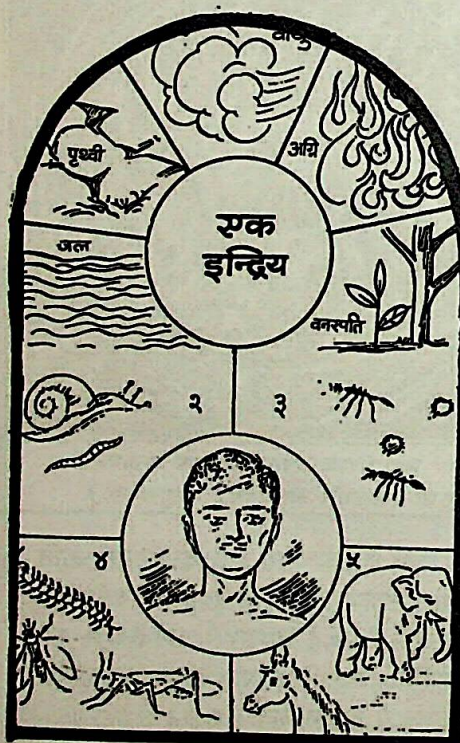
पानी के शरीर का आकार बुलबुले जैसा, अग्नि के शरीर का आकार सुई की नोंक जैसा और वायु के शरीर का आकार ध्वजा जैसा होता है। वनस्पति के शरीर का आकार अनेक प्रकार का होता है। इन सबमें आहार, निद्रा, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाएँ तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय हैं। ये सब स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा भोजन प्राप्त करते हैं। सचित्त, चैतन्य वाली पृथ्वी के एक जीव का आयुष्य न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त और अधिकतम बाईस हजार वर्ष माना गया है। अग्नि, पानी, वायु और वनस्पति का न्यूनतम आयुष्य अन्तर्मुहूर्त और अधिकतम क्रमशः तीन रात्रि–दिन, सात हजार, तीन हजार और दस हजार वर्ष माना है।

पृथ्वी आदि की चैतन्य शक्ति की भाँति दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय वाले जीवों का भी विचार किया गया है। पाँच इन्द्रिय वालों में पशु–पक्षी, मनुष्य, देव और नारक हैं। इसी प्रकार जरायुज, अंडज, पोतज, स्वेदज, उद्भिज्य और उपपादुक रूप में भी जीवन दर्शन किया गया है और बताया गया है कि जीवन जीवत्व की दृष्टि से समान होते हुए भी उनमें जो कई बातें भिन्न–भिन्न होती हैं, उसका कारण उनके शुभ और अशुभ संस्कार हैं। इन सब वर्णनों का उद्देश्य मैत्री का पोषण एवं संस्कार शुद्धि के लिए प्रयत्नशील होना है।[63] महावीर ने वही किया। इसलिए जीवन से जीवन का तादात्म्य होने से पंचभूत उन्हें अपेक्षित ऊर्जा देने लगे और वे स्नेह, सहकार तथा सृजनशीलता का भाव सृष्टि में संक्रांत करने लगे। वे इन प्रयोगों में इतने व्यस्त रहे कि चार–चार, पाँच–पाँच महीनों तक शरीर मृतावस्था जैसी हालत में रहा और वे निराहार रहे। जो मनुष्य सारे परमाणु जगत् से सम्बन्ध बनाये हुए हैं, उसे इसी परमाणु जगत् से अगर कुछ शारीरिक शक्ति मिल रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यही उनके भोजन की चिंता न करने का सूत्र था। आचार्य रजनीश के शब्दों में महावीर की चेष्टा रही कि पौधे, पशु–पक्षी, देवी–देवता, सब तक, जीवन के जितने तल हैं, उन सब तक उन्हें जो मिला है, उसकी खबरें पहुँचे।'[64] खबर पहुँचने से जिसे लाभ हुआ, उसका उल्लेख जैनागमों में मिलता है। उसके अनुसार एक बार जंगल में भयंकर आग लग गयी। पशु–पक्षी सुरक्षित स्थान की तलाश में भागे। एक जगह आश्रय मिला। जीव–जन्तु संकुल स्थान में हिलने–डुलने की गुंजाइश न रही। एक हाथी ने अपना पैर उठाया तो तत्काल वह रिक्त स्थान खरगोश ने घेर लिया। हाथी पैर रखता तो खरगोश का कचूमर निकल जाता। दयावश वह अपना पाँव दावाग्नि के शांत होने तक उठाये रहा। जिस दिन आग बुझी खरगोश कूदता–फांदता जंगल में भाग गया, तब हाथी ने पैर नीचे रखा। तीन पैरों पर लंबी

संक्रान्त संवेदना
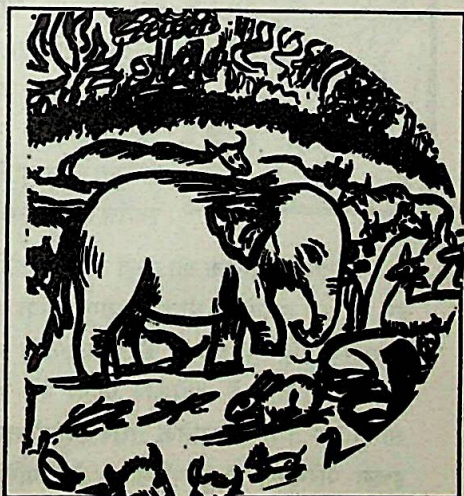
अवधि तक खड़ा रहने से वह इतना निर्बल हो गया कि गिरते ही उसके प्राण पखेरू उड़ गये। 'अंत भला तो सब भला' की उक्ति के अनुसार वह दयालु जीव आकर मगध सम्राट् बिम्बसार के पुत्र के रूप में पैदा हुआ। नाम रखा गया– मेघ कुमार, जो बचपन में ही महावीर के श्रमण संघ में सम्मिलित हुआ। महावीर ने साधना काल में हाथी के हृदय तक जो खबर पहुँचायी, वह कितनी फलवती हुई? सरकस वाले हाथियों को प्रशिक्षित करते हैं, उसी तरह संतों से प्रशिक्षित हाथी अंचभित करने वाली घटना में सहायक बन सकते हैं। जीवन को जीवन से, जीवन के अनगिन तलों से प्रभावित करने वाले महावीर ने चंडकौशिक जैसे विषधर के काटने पर भी उसे दूध दिया और संवेदना जगत् में शामिल कर लिया– ऐसी अनेक घटनाएं जैनागमों में हैं। महावीर के बाद ऐसी कोशिश करने वाला दूसरा कहाँ हुआ?

एक पंथ दो काज

पावा में सोमिल का यज्ञ कराने वाले पुरोहित महावीर से शास्त्रार्थ करने पहुँचे तो उनकी मुस्कराहट से ही उन्हें अनंत, अखण्ड, अविभाज्य जीवन के रहस्य ज्ञात हो गये।

अंगराज दधिवाहन पराजित हुआ और कौशाम्बी नरेश शतानीक के सैनिक रानी और राजकन्या को उठा ले गये। रानी मारी गयी। राजकुमारी चंदना कौशाम्बी के बाजार में बेच दी गयी। हाथों में हथकड़ी, पाँवों में बेड़ी, मुंडित सर व ताड़ित तन लिये वह भूखी–प्यासी रो रही थी कि महावीर पहुँचे। उन्होंने न केवल उसे सान्त्वना दी, वरन् ब्रह्मचारिणी घोषित किया और उसे छत्तीस हजार श्रमणियों का नेतृत्व सौंपा। 14 हजार श्रमणों की भाँति वे भी भारत भर में पैदल घूमीं। उन्होंने पत्नियों, उप–पत्नियों, दास–दासियों तथा नगर वधुओं के साथ सम्बन्ध रखने वालों को **स्वदार संतोषव्रत** और महिलाओं को पतिव्रत पालन करने की प्रेरणा दी। एक लाख 59 हजार श्रावक तथा 3 लाख 18 हजार श्राविकाएँ बनीं। इस तरह असंख्य दास–दासियों का जीवन यंत्रणा मुक्त हुआ और उनमें स्वतंत्र, स्वावलम्बी रहने की शक्ति उत्पन्न हुई।

महाराज श्रेणिक को उन्हीं का पुत्र कोणिक बंदीगृह में डालकर राजगृह का शासक बन बैठा।[65] इसके विपरीत तेतलीपुर नरेश कनकरथ ने अपने पुत्रों के अंग–भंग किये,[66] जिससे वे राज्यश्री हड़पने की हिमाकत न करें। इसी तरह गाँव–गाँव, नगर–नगर और परिवार–परिवार में अधिकार प्राप्ति की होड़ थी। इस होड़ के चलते पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनैतिक संघर्ष उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। महावीर ने अपरिग्रह के साथ **इच्छा परिमाण, वस्तु परिमाण, क्षेत्र परिमाण व्रत** निर्धारित किये। पीढ़ीगत विरोध

मिटाया। नई पीढ़ी को अवसर मिले। धन-दौलत व सत्ता का अभिमान रखने वालों के सम्मुख पूनी बनाकर जीविका–निर्वाह करने वाले पूनिया की प्रशंसा की और कहा कि इसकी 48 मिनट की चर्या के आगे मगध साम्राज्य बौना है।[67]

मगध सम्राट् बिम्बसार (श्रेणिक) वैशाली गण–प्रमुख चेतक, अंगराज दधिवाहन, कौशाम्बी नरेश शतानीक, काशी नरेश शंख, कौशलपति प्रसेनजित, अवंती नरेश चन्द्र प्रद्योत, हस्तिनापुर महाराज शिव, सिन्धु सौवीर शासक उदयन आदि महावीर से मार्गदर्शन लेते रहे। उनके राज्यों में महावीर का प्रवास हुआ। प्रजा महावीर को सम्मान देती थी।

महावीर कृषि–गोपालन करने वालों को सम्मानित करते थे। उनके श्रमणोपासकों के पास चार–चार, पाँच–पाँच, छ–छ गोकुल थे। काशी निवासी महाशतक तथा चुलनी पिता के पास आठ–आठ गोकुल थे। हर गोकुल में दस-दस हजार गायें थीं। वाणिज्य ग्रामवासी आनन्द के पास पाँच सौ बैलों की खेती थी। चार हजार गायें थीं। उसकी चार करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ व्यापार में, चार करोड़ कर्ज पर और चार करोड़ भूमि–मकान में विनियोजित थी। वह सत्संग करने आया तो पूछा महावीर ने आनन्द ! इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। इनके पीछे कब तक दौड़ोगे? जितना लाभ होगा, उतना ही लोभ बढ़ेगा। बात आनन्द के गले उतर गयी। उसने 'परिग्रह परिमाण व्रत' लिया। राजगृह का धन्ना गृहपति व्रत लेने की मानसिकता नहीं बना पाया। उसकी दौलत चिलाती पुत्र ने दिन दहाड़े लूट ली। महावीर ने अमीरों को समझाया और गरीबों को भी। लुटेरों की मनःस्थिति भी बदली। परिणामतः गरीबी का संत्रास घटा, अमीरी की ऐंठ कम हुई। सार्वजनिक उपक्रमों के लिए सम्पत्ति मिलने लगी। अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग देखकर आनन्द संतुष्ट तो हुआ ही, संबोधि को भी प्राप्त हुआ। उसकी उदात्त भावभूमि के प्रति महावीर के प्रमुख अन्तेवासी गौतम सन्देह व्यक्त कर आये तो महावीर ने उन्हें उल्टे पाँवों क्षमा माँगने भेजा।[68] श्रमणों को समझाया कि अनेक श्रमणों का आचार श्रेष्ठ है, लेकिन श्रावकों का आचार श्रमणों से भी श्रेष्ठ है।[69] यह श्रेष्ठता क्रिया मूलक आचार से हस्तगत करने वाले लोग घर में रहते हुए भी गृहस्थ नहीं होते, न स्त्री–पुरुष आदि उनके मार्ग में बाधक होते हैं। उन्हें मोहजयी कहा जाता है। घरबार छोड़ने पर भी जो साधु मोहग्रस्त रहते हैं, उनकी अपेक्षा गृहस्थ श्रेष्ठ हो जाते हैं।[70] उपासकों की श्रेष्ठता बखानने से उपास्य (श्रमण) सचेत हो जाते थे तथा उपासकों में उत्साह संचरित होता था। एक बार इसी तरह उत्साहित होकर महाशतक ने अपनी पत्नी की उद्दंडता को कोसा तो महावीर ने गौतम से सन्देश भिजवाया कि रेवती के साथ अप्रिय तथा संतापकारी व्यवहार किया, उसका प्रायश्चित लो।[71]

अर्जुन माली जैसा हत्यारा, रोहिणेय जैसा चोर, आर्द्र कुमार जैसा अनार्य, हरिकेश
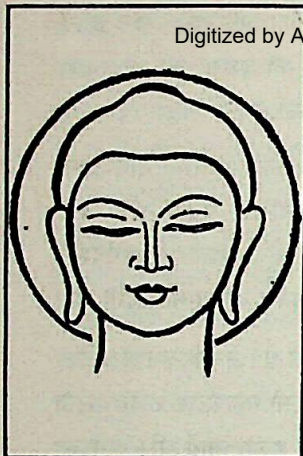
जैसा चाण्डाल महावीर की सन्निधि में आया और उन्हीं का बनकर रह गया। जिनके लिए घर में स्थान नहीं, समाज तिरस्कृत करता है, राज्य सुरक्षा नहीं देता, उन्हें महावीर ने अपने धर्मसंघ में आश्रय दिया। धर्मसंघ साधनाशील, एकान्तप्रिय, प्रवृत्तियों से मुक्त, तपस्वी, ध्यानी, मौनी के लिए था, वैसे ही अवांछित लोगों के लिए भी था। वे लोग सार्वजनिक घोषणा कर संयम स्वीकार करते थे।[72] और संघ उन्हें अपना लेता था। लेकिन जात्याभिमानी लोग उनकी अवज्ञा करते थे। एक बार हरिकेशी के साथ पंडितों ने दुर्व्यवहार किया तो महावीर ने उन्हें चुनौती देते हुए पूछा था कि है कोई तपस्वी, जो तपस्या में इस ऋषि की बराबरी कर सके ? इसने अपने पुरुषार्थ के बल पर परमार्थ को आत्मसात् कर लिया है।[73]

महावीर के लिये मनुष्य–मनुष्य में कोई भेद नहीं था। वे मानते थे कि जैसे घोड़ा घोड़ा ही रहता है, वैसे मनुष्य भी मनुष्य ही है। सारे मनुष्यों की एक ही जाति है— मनुष्य जाति[74]। कर्म क्षेत्र में व्यवहार करने के लिए जो काम किया जाता है, वह भी हेय नहीं होता। हेय है— असत् आचरण। एक चांडालिनी की कथा बहुचर्चित है। वह सिर पर मरा हुआ कुत्ता और लहू से सने हाथ में खप्पर लिये रास्ते में पानी छिड़क रही थी। उसे देखकर किसी ऋषि ने पूछा— अरी पगली ! यह क्या कर रही है ? उसने नम्रतापूर्वक जात्याभिमानी लोगों की कमजोरी उजागर करते हुए जवाब दिया— इस रास्ते से अनेक कृतघ्नी लोग गुजरे हैं । उनके पाँव से अपवित्र हुई धूल का स्पर्श मुझे न हो जाय, इसलिए जल छिड़क–छिड़क कर चल रही हूँ।[75] इसी प्रकार काशी प्रवास के दौरान जगद्गुरु शंकराचार्य को चाण्डाल ने अपनी बातों से चमत्कृत किया। वैदिक वाङ्मय ने उस चाण्डाल को छद्मवेषी शिव कहकर जहाँ चाण्डालों से दूरी बनाये रखी, वहाँ हरिकेशी को अपने संघ का अंग बनाकर महावीर ने मानवता को महिमा मंडित किया।

ऐसो को उदार जग माहीं ?

काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्योग का सम्यक् समायोजन करने वाले महावीर से किसी तरुण ने पूछा— भंते ! क्या मैं मुक्त हो सकता हूँ ?

अवश्य— महावीर ने जवाब दिया।

प्रश्नकर्ता संतुष्ट हो विदा हुआ। किन्तु निकट बैठा सहयोगी बोला — भगवन् ! वह दुष्ट है। उसकी मुक्ति कैसे सम्भव है?

महावीर ने समाधान दिया— जो जिज्ञासु है और जिसमें मुक्त होने की आकांक्षा है, वह दुष्टता के पंजे से छूटे बिना नहीं रहेगा। देर है, अन्धेर नहीं।

महावीर मन की सुन्दरता में विश्वास करते थे। किसी को क्लीव, क्रूर, रोगी, चोर आदि कहकर सामाजिक विकृति उभारना उन्हें पसंद न था।[76] पदार्थ का रूपान्तरण देखकर भी जो चेतना को अरूपान्तरित रखते हैं, वे सत्‌चित्‌ आनन्द कैसे पा सकते हैं? असत्‌ का निराकरण पर्याप्त नहीं है, सत्‌ का स्वीकरण चाहिए। उसके लिए पहले हिताहित का विवेक अपेक्षित है, यह **सम्यक्‌ ज्ञान** है। फिर शुद्ध के प्रति निष्ठा आवश्यक है, यह **सम्यक्‌ दर्शन** है। उसके पश्चात्‌ तदनुकूल आचरण चाहिए यह **सम्यक्‌ चरित्र** है। जिसे सम्यक्‌ ज्ञान–दर्शन–चरित्र की त्रिपदी सध जाती है, वह साधारण कामों को असाधारण रूप से उत्कृष्टतापूर्वक करने लगता है। उसके लिए हर वस्तु, हर घटना, हर कदम मंगल की ओर बढ़ने/बढ़ाने का साधन है और मानवता साध्य है।[77]

सिद्धि की ओर उन्मुख हर व्यक्ति साधक है। जितने साधक उतने ही साधना के पंथ हैं। साधना में स्व–पर कल्याण कामना प्रधान होती है और शाब्दिक तत्वज्ञान गौण रहता है। आत्मवाद, अनात्मवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद आदि तत्वज्ञान की शाखाएँ हैं। इनके पीछे वाद हैं। महावीर के समय 363 वाद थे।[78] वे इन वादों में उलझे नहीं। उन्होंने वस्तु को सामान्य रूप में देखा और विशेष रूप में भी देखा। सम्यक्‌ दृष्टि से दोनों में अविरोध पाया।[79] वस्तु का गुण–धर्म सापेक्ष है। सापेक्षता तत्व है। निरपेक्षता अतत्व है। इस प्रकार तत्वज्ञान को व्यापक आधार मिला और इस मत के, उस मत के, स्त्री–पुरुष–नपुंसक आदि भाँति–भाँति के लोग सिद्धि की ओर अग्रसर होने लगे।[80] श्रावस्ती नगरी के तपोवन की ओर आने वाले स्कंधक सन्यासी का स्वागत करने महावीर ने गौतम को भेजा।[81] गांगेय अणगार को अपनाया।[82] निग्गंथ उदक, पेठालपुत्त[83] तथा कालस्य वेषिपुत्र को संघ में लिया।[84] पंचरंगी वस्त्र धारण करने वाले केशी, भगवाधारी अम्बड़, श्वेतवस्त्रधारी गौतम तथा दिगम्बर (जिन कल्पी) मुनि न केवल महावीर के पास आये, वरन्‌ उनके तीर्थ के यशस्वी स्तम्भ माने गये। समन्वय की भूमिका पर खड़ा उनका तीर्थ उदार दृष्टि से सोचने–समझने वालों का अधिष्ठान था।[85] इसीलिए महावीर–स्तुति में कहा गया है कि जैसे नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अलग–अलग दार्शनिकों के मत आप में समाहित हैं। जिस प्रकार सागर में नदियों का पृथकत्व दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार भिन्न–भिन्न दार्शनिक दृष्टियों में आप अगोचर हैं।[86] आपकी चिन्तनशैली **अनेकान्त मूलक**, प्रतिपादन शैली **स्याद्वाद मूलक** तथा जीवन–शैली **मैत्री मूलक** है। यह अहिंसा की चरम परिणति है और मैत्री का मंगल अनुष्ठान भी। इसी मैत्री को **'क्षमापना पर्व'** के रूप में आयोजित कर[87] कितने ही दुश्मन दोस्त बन गये और कितने ही मुकदमों का सहज निबटारा संभव हुआ। कारागृह में बन्द कैदी

छूट गये। वर्ष में एक बार आयोजित होने वाले इस पर्व में जो अपनी गलतियों के लिए

क्षमायाचना नहीं करता और अपने प्रति किये गये अपराधों के लिए दूसरों को क्षमा नहीं देता, वह जैन कहलाने का पात्र नहीं है। आदर्श को व्यवहारोन्मुख बनाने की यह अनूठी कल्पना है या कला?

ऋषभदेव से लेकर पार्श्वनाथ तक की श्रमण परम्परा को आत्मसात् करने वाले महावीर के तीर्थ ने मनुष्य के साथ–साथ मिट्टी, पानी, धूप, हवा, आकाश और अवकाश का शोषण नहीं, पोषण किया। पशु–पक्षी, प्राणी जगत् एवं वनस्पति तक को क्लेश न पहुँचाने की दृष्टि विकसित की। दार्शनिक यह सब जानते–समझते थे, किन्तु उन्होंने दुरुपयोग को रोकने का उतना प्रयास नहीं किया, जितना संगठित व सर्वांगीण प्रयास महावीर ने किया। अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, महाव्रत, रात्रि भोजन त्याग, समिति, गुप्ति का पालन करने वालों को ब्रह्मोपलब्धि हुई। जिस व्यवहार से अहिंसादि गुण संवर्धित होते हैं, वही ब्रह्म है, शेष सब अब्रह्म है।[88] कल्पना कृति बन गयी। कर्ता 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का साक्षात्कार करने का संबल पा गया। अपनी चोटी अपने हाथ, लेने जैसी है यह बात।

मत मतान्तर

ई.पू. छठी पाँचवीं शताब्दी में अनेक प्रभावी आचार्य हुए। एक ओर तीर्थंकर महावीर जनता को प्रबोधित कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर महात्मा बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन हो चुका था। वे आठ बातों पर बल देते थे। 1. ठीक सोचना, 2. ठीक इच्छा करना, 3. ठीक बात को मानना, 4. ठीक बात बोलना, 5. ठीक प्रयत्न करना, 6. ठीक काम करना, 7. ठीक जीविका कमाना और 8. ठीक ध्यान करना। यह जीवन परक दृष्टि है। इस दृष्टि से आम आदमी प्रभावित हुआ। इसे मध्यम मार्ग भी माना गया है, जो भोग और योग को सन्तुलित रखता है। बुद्ध इस बात में बड़े सतर्क थे कि निर्गन्थों (महावीर) के जो शिष्य उनके मत को स्वीकार भी करें, वे उसके बाद भी अपने निर्गन्थ गुरुओं का उसी प्रकार दान–मानादि से सत्कार करते रहें, जैसा कि वे पहले करते थे। उपालि गृहपति को स्पष्ट ऐसा आदेश दिया था। बौद्ध साहित्य ने जैन धर्म के एक ऐसे गौरवमय साक्ष्य की ओर संकेत किया है, जिसका पता स्वयं जैन धर्म को भी नहीं है। अशोक के पुत्र और पुत्री, महेन्द्र और संघमित्रा, जब लंका में धर्म–प्रचारार्थ गये तो वहाँ उन्होंने अपने से पूर्व स्थापित निर्ग्रन्थ संघ देखा। लंका के प्राचीन नगर अनुराधपुर की (जो आज खण्डहर के रूप में पड़ा है) जब स्थापना की गयी तो वहाँ महावंश के कथनानुसार तत्कालीन राजा ने निर्ग्रन्थों के लिए आश्रम बनवाये।[89]

बुद्ध के अलावा पूरण कश्यप, अजितकेश कंबल, प्रकुध कात्यायन, संजय वेलट्ठि पुत्र और गोशालक की गणना उस समय के धर्मनेताओं में हुई है। इनमें चार के साथ

महावीर के सम्बन्ध कैसे रहे, यह बताने वाला साहित्य अनुपलब्ध है, लेकिन अनेक स्थलों पर महात्मा गोशालक को एक प्रतिस्पर्धी के रूप में चित्रित किया गया है। वे महावीर की प्रारम्भिक साधना के साक्षी थे। अचेलक अवस्था में रहने के कारण दोनों ने साथ–साथ कष्ट सहे। असद् आचरण का प्रतिकार करने के लिए गोशालक हमेशा कमर कसे रहे। कालाय सन्निवेश तथा पत्तकालय में ग्राम मुखिया के पुत्रों की लम्पटता का उन्होंने कड़ा विरोध किया। इसी प्रकार कमंगला नगर में मद्यपान कर उन्मत्त बने लोगों की भर्त्सना की। वे नियतिवादी थे। श्रावस्ति में एक बार महावीर के शिष्यों के साथ उनका विवाद हुआ। इसके बावजूद महावीर की गोशालक के प्रति सद्भावना में कमी नहीं आयी। गोशालक ने भी अन्त में अपने शिष्यों के सम्मुख कहा – आर्यों! महावीर महान् हैं। हमने उनकी महानता का मान नहीं किया। महावीर ने भी अपने इस प्रतिस्पर्धी की सद्गति का उल्लेख कर गोशालक–परिवार का मन जीत लिया।[90]

महावीर ने धर्म, दर्शन, व्यवहार, राजनीति के बारे में संतुलित विचार रखे। संतुलित चिन्तकों के चलते **षड्-दर्शन** की प्रस्तुति हुई। कपिल, पतंजलि, गौतम, कणाद, जैमिनी, बादरायण जैसे ऋषियों ने बौद्धिक प्रतिभा प्रदर्शित की। ई.पू. 600 के आस–पास **वाल्मीकि रामायण** के प्रणयन तक दार्शनिक छाये रहे। उसके बाद भारत की रचना हुई, जो करीब 200 वर्षों बाद **महाभारत** के नाम से ख्यात हुआ। इस बीच सर्वाधिक आलोचित चार्वाक दर्शन रहा। उसे अनात्मवादी तथा नास्तिक कहा जाता है। इस विचारधारा का परिचायक पद्य है –

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?

चार्वाक मतानुसार परलोकवाद और पुनर्जन्म के पीछे स्वार्थ छिपा है। मैं सर्वदा के लिए मर न जाऊँ। इस डर के मारे मरने के बाद भी जीवित रहने की कल्पना करना कायरता है। यदि पुनर्जन्म का विचार हाथ–पैर और मन को बाँधे न होता तो हजार में से 999 आदमी अपने सामने की परोसी थाली एक आदमी के सामने रखकर भूखों न मरते और न भूखे–नंगे रहने वालों की कमाई से उनके खून और हड्डियों से बड़े–बड़े प्रासाद तैयार होते। तक्षशिला के आचार्य बहुलाश्व ने सिंह सेनापति के पितरों सम्बन्धी पूछे गये प्रश्न के उत्तर में यहाँ तक कहा कि पितर लोक की कल्पना में पितरों के नित्य समागम की भावना काम कर रही थी, किन्तु प्राची के रजुल्लों ने इसी लोक में फिर–फिर पैदा होने की कल्पना को फैलाया। इसमें उनका नीच स्वार्थ काम कर रहा था। वह इसके द्वारा इस संसार के भीतर अपने अधिकारों–भोगों का औचित्य सिद्ध करना चाहते थे। यह दास–दासियों की बनायी दुनिया उनकी नहीं, बल्कि मनुष्य के अपने

ही पहले कर्मों की बनायी है— यह था उनका अभिप्राय। यह काल्पनिक पुनर्जन्म बिल्कुल आत्मकेन्द्रित, विनाश के भय और वैयक्तिक लोभ का स्वरूप है, जबकि पुत्र—पुत्री के रूप में हुआ पुनर्जन्म आत्मविस्तार, स्वार्थ त्याग और आशा से भरा हुआ बड़ा गौरवशाली जन्म है।[91]

सम—सामयिक मतों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

1. जो वर्तमान जन्म का विचार करते हैं।
2. जो इस जन्म के अलावा जन्मान्तर का भी विचार करते हैं।
3. जो जन्म—जन्मान्तर के उपरान्त निर्वाण का विचार करते हैं।

पं. सुखलालजी संघवी ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि अनात्मवादियों की दृष्टि जीवन को सुखमय बनाने की रही। वे काम और अर्थ के लिए पुरुषार्थ करते थे। आत्मवादी चाहते थे कि इस जन्म में सुखी रहें और जन्मान्तर में इसकी अपेक्षा और अधिक सुख पाएँ। इसी विचार सरणी वाले लोग तरह—तरह के धर्मानुष्ठान करते थे और उसके द्वारा परलोक तथा लोकान्तर के उच्च सुख पाने की श्रद्धा भी रखते थे। निवर्तक धर्म में आस्था रखने वाले लोगों ने माना कि एक ऐसी भी आत्मा की स्थिति सम्भव है, जिसे पाने के बाद फिर कभी देह धारण नहीं करना पड़ता। वे आत्मा की उस स्थिति को मोक्ष/निर्वाण कहते थे। इस खोज की सूझ ने उन्हें एक ऐसा मार्ग सुझाया, जो किसी बाहरी साधन पर निर्भर न था। वह एक मात्र साधक की अपनी विचार—शुद्धि और वर्तन शुद्धि पर अवलम्बित था।

भारतीय संस्कृति के अध्ययन से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि भारतीय आत्मवादी, दर्शनों में कर्मकाण्डी और मीमांसक के अलावा सभी निवर्तक धर्म हैं। अवैदिक माने जाने वाले बौद्ध और जैन दर्शन की संस्कृति तो मूल में निवर्तक धर्म स्वरूप ही है, पर वैदिक समझे जाने वाले न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा औपनिषद दर्शन की आत्मा भी निवर्तक धर्म पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक हो या अवैदिक, सभी निवर्तक धर्म प्रवर्तक धर्म को, यज्ञ यागादि अनुष्ठानों को अन्त में हेय ही बतलाते हैं। सभी सम्यक् ज्ञान तथा आत्मज्ञान मूलक अनासक्त जीव व्यवहार को उपादेय मानते हैं एवं उसी के द्वारा पुनर्जन्म के चक्र से छुट्टी पाना सम्भव बतलाते हैं। जान पड़ता है कि इस देश में जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले पहल आये, तब निवर्तक धर्मानुयायियों के साथ उनका वैचारिक संघर्ष हुआ और फिर एक दूसरे की कुछ बातें लेकर वे सहजीवी बन गये। पीढ़ियों की सहिष्णुता के कारण अब साधारण लोग यह जान ही नहीं सकते कि आचार—विचार की कौन—सी बात मौलिक है और कौन—सी दूसरों के संसर्ग का परिणाम है।[92] 'पुरुष सूक्त' तथा
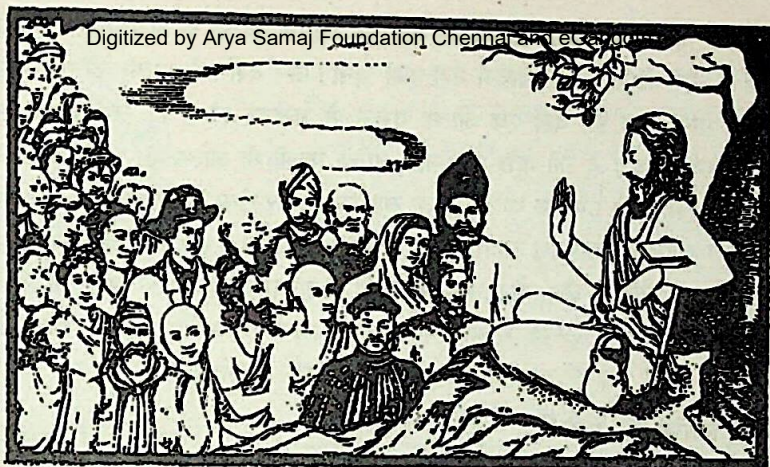
संस्कृति-संगम

'नासदीय सूक्त' के समय आर्य विचारकों ने प्राग्वैदिक दर्शन को अपनाया था। उसके बाद अवैदिक दर्शन भी अपना लिये गये। तब 'वैदिक अवैदिक, आर्य अनार्य परम्पराओं ने गंगा–यमुना के समान आपस में मिलकर सनातन हिन्दुत्व का रूप प्रदान किया।[93] वैदिक, जैन और बौद्ध ऋषि–मुनि समान आदर पाने लगे। आम मान्यता यह रही है कि महापुरुषों के उपदेशों की विविधता उनके शिष्यों की व्याख्याओं के चलते है, किन्तु सभी महापुरुष जन्म–जरा–मरण–भय आदि रोगों को दूर करने वाले वैद्य हैं, जो रोगी की आवश्यकता के अनुरूप उसे औषध देते हैं।[94]

धर्माचरण की जगह धर्म की प्रधानता

भारतीय आचार–विचार में विविधता है। एक परंपरा यह है कि हमारे आचार–विचार अशुभ से शुभ की ओर, अर्थात् पाप से पुण्य की ओर, दूसरे शब्दों में अँधकार से प्रकाश की ओर अग्रसर हों, ताकि परम पद प्राप्त हो सके, जिसका अर्थ है-- जीवात्मा का परमात्मा में विलय। इस विचारधारा में द्वेष का परिहार तो है, किन्तु राग की उपादेयता है, निस्संदेह यह राग प्रशस्त कहा जायेगा। जैन आचार–विचार इससे एक कदम आगे बढ़ते हैं। वहाँ शुभ प्रवृत्ति का उद्देश्य इससे अधिक नहीं कि वह अशुभ से निवृत्ति में सहायक हो। किन्तु अशुभ से निवृत्ति हो या शुभ में प्रवृत्ति, दृष्टि आद्योपान्त शुद्ध पर रहनी चाहिए। शुद्ध का तात्पर्य उपर्युक्त परमात्मा या परमपद जैसी किसी वस्तु से नहीं है। शुद्ध भाव आत्मा का वह मूल स्वरूप है, जो किसी भी मुक्तात्मा का होता है। अशुभ का अर्थ द्वेष आदि भाव, शुभ का अर्थ राग आदि भाव और शुद्ध का अर्थ धर्माचरण है। आत्मा के अस्तित्व को नकार कर भी चार्वाक दर्शन शुद्ध भाव को नहीं नकार पाया। चार्वाक स्वयं ऋषि कहलाये। चार्वाक के अतिरिक्त प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में आत्मा का अस्तित्व मान्य है। लेकिन उस मान्यता में भी मौलिक अन्तर है। बौद्ध दर्शन में आत्मा की जीवनकाल में तो स्वीकृति है, किन्तु जीवनोत्तर काल में आत्मा का विलय होना माना गया है। वैदिक

दर्शनों में आत्मा का अस्तित्व है। पर वह एक व्यापक आत्मा के अंश के रूप में माना गया है, जैसे समुद्र में पड़े घड़े में भरा हुआ पानी। जैन दर्शन में आत्मा को एक स्वतंत्र इकाई माना गया है। यहाँ एक आत्मा दूसरी से असंबद्ध तो है ही, उस परमात्मा से भी सर्वथा असंबद्ध है, जो कुछ और नहीं, बल्कि किसी भी आत्मा का पूर्णता प्राप्त रूप है।[95] शुद्ध भाव को उपलब्ध व्यक्ति आत्म साक्षात्कार कर लेता है। विविधता में एकरूपता स्थापित करने में धर्माचरण सहायक था, इसलिए भारत में ई.सन् प्रारंभ होने के सैंकड़ों वर्ष बाद तक वैदिक, जैन, बौद्ध मत (प्रतिनिधि विचारधारा) सूचक नाम रहे, जो इस्लाम धर्म व इसाई धर्म के सम्पर्क में आने पर अलग–अलग धर्म कहे जाने लगे। इसे दर्शनों के साथ–साथ धर्म की अवनति माना जाय या मत–मतान्तरों की उन्नति?

विश्व शान्ति की गंगोत्री

जब भारत में धर्म–दर्शन की चर्चा–परिचर्चा का उत्कर्ष था, तभी यूनान में पाइथागोरस, ईरान में जरथुस्त्र, जोरास्टर, चीन में कन्फ्युशियस ने सदाचार पर जोर देना आरम्भ किया। ग्रीस, आजोनिया, फारस में अंधविश्वासों के विरोधी उठ खड़े हुए। उनमें हेरीक्लिटस, प्लेटो, लाओत्से, सुकरात, ईसा, मुहम्मद आदि विशेषोल्लेख्य रहे। प्रेम, करुणा, दया, सेवा का वातावरण बना। इसमें महावीर का परोक्ष योगदान कितना था, यह बताने का प्रमाण उपलब्ध नहीं है, लेकिन यह निर्विवाद है कि बीच की कालावधि में अहिंसक वातावरण बनने से भारतीयों ने खेती, गो–पालन, व्यापार आदि में आशातीत उन्नति की। **'कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं'** की अवधारणा के चलते जहाँ वैश्य वर्ग ही उत्पादक था, वहाँ श्रमण संस्कृति के प्रभाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र माने जाने वाले लोग भी उत्पादन में सहभागी हुए। **'अन्नं वै ब्रह्म'** अन्न को ब्रह्म मानने वाले पहले से विद्यमान थे, किन्तु **'अन्नं बहु कुर्वीत तद्व्रतम्'** पर अमल इसी समय हुआ और भारत ने स्वर्णयुग देखा। भारतीयों के मन में यह बात घर कर गयी कि "समाज का नव निर्माण करने का कार्य देवमंदिर का निर्माण करने जितना ही महत्वपूर्ण है। इसकी एक–एक ईंट बड़ी सावधानी से, त्याग–तपस्या की भावना के साथ रखी जाती है और रखने वाला हर व्यक्ति अपने जीवन की पवित्रता से उसे सींचता है।" सामूहिक चरित्र समाज का वैभव हो जाता है।

महावीर के साथ जैन तीर्थंकरों की चौबीसी पूरी हुई। लेकिन इसके साथ धर्म की प्रगति के द्वार बन्द नहीं हुए। महावीर ने एक बड़ी बात कही कि भारत में हमसे पहले भी तीर्थंकर हुए, आगे भी होंगे और विदेह क्षेत्र में अभी हैं। पंचपद वंदना में कम से कम बीस एवं अधिक से अधिक से अधिक 170 तीर्थंकर होना मान्य किया है।[96] विदेह क्षेत्र से विदेश का आशय है तो सीधा अर्थ है कि विश्वशान्ति के लिए समर्पित महानुभावों को अपने समकक्ष माना और कहा कि विश्व में जितने बुद्ध, अर्हत् या महापुरुष हुए हैं
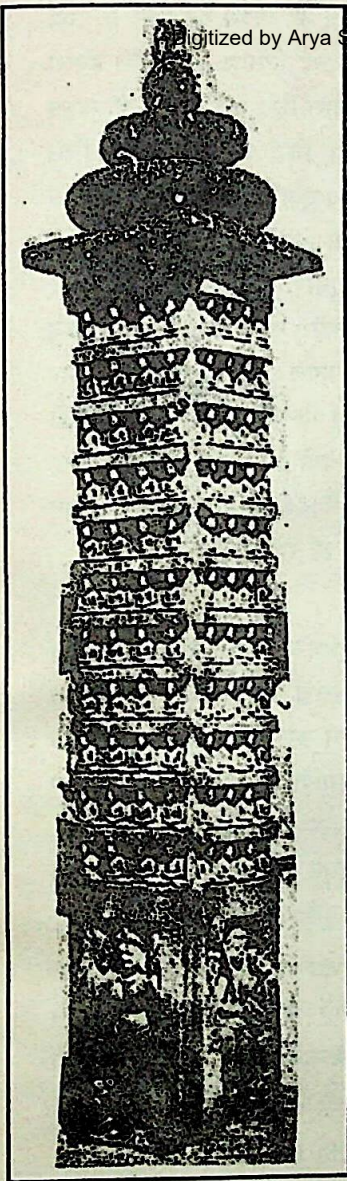
176 जिन मूर्तियों के अंकन से युक्त देवगढ़ का मानस्तम्भ

या होंगे, उन सबका अधिष्ठान शान्ति है। जैसे सारे प्राणियों का आधार पृथ्वी है।[97] ईसा के 527 वर्ष पूर्व विश्व शान्ति को इतना सशक्त समर्थन देना क्या बिना दूरदर्शिता के सम्भव था? जहाँ हम भारत को श्रेष्ठ और जम्बूद्वीप तक ही अपनी पहुँच मानते थे, वहाँ दूसरी भोग भूमियों में[98] योग का बीजारोपण करने की गंगोत्री महावीर की सोच में है। उन्होंने ही विश्व में सर्वप्रथम अणु–परमाणु से सम्बद्ध शक्ति का साक्षात्कार किया। हाँलाकि पाश्चात्य देशों में यह एक निश्चित धारणा है कि परमाणु सम्बन्धी पहली बात डेमोक्रेटस (ई.पू. 460–370) ने कही। पर भारतवर्ष में परमाणु का इतिहास इससे भी सैकड़ों वर्ष पूर्व का मिलता है। जैन दर्शन में परमाणु व पुद्गल के विषय में सुव्यवस्थित विवेचन है।[99] अणु शक्ति की गरिमा को व्यक्त करने वाला शास्त्रीय उदाहरण तेजोलेश्या का है। तेजोलेश्या पौद्गलिक है और वह विस्तृत भाव को प्राप्त होकर अंग, बंग, मगध, मलय, मालव जैसे 16 देशों को एक साथ भस्म कर देती है।[100] अणुबम और तेजोलेश्या में यत्किञ्चित साम्य है, तभी तो 6 अगस्त, 1945 को हिरोशिमा पर तथा उसके दो दिन बाद नागासाकी पर बम गिरे और करोड़ों लोग तबाह हो गये। विश्व के जागृत नागरिक बमों पर प्रतिबंध लगाने की बात कर रहे हैं, जबकि महावीर ने गोशालक की तेजोलेश्या को अपनी शीतल लेश्या से परावृत्त कर दिया था। महावीर द्वारा स्वीकृत जैनों की जीवनचर्या विश्व शान्ति के विविध आयामों को उद्घाटित करने वाली है।

मुनि श्री नगराजजी ने स्याद्वाद, सापेक्षवाद, परमाणुवाद, आत्म अस्तित्व, भू–भ्रमण और ईश्वर आदि विषयों का विज्ञान के साथ समीक्षात्मक अध्ययन किया है, वह चमत्कृत करने वाला तो है ही, विश्व शान्ति के लिए और अधिक उत्साह से जुटने की प्रेरणा देने वाला भी है। शांति–संधियाँ करने वाले उससे लाभ उठा सकते हैं।

मानवता के महान् उपकार की संभावना से ही अणु का आविष्कार किया गया था, किन्तु हमारे उन्मादी चित्त ने इसका प्रयोग विध्वंस के लिये किया। आज चारों ओर विध्वंस ही विध्वंस है। यह तो बहुत स्थूल बात है, यद्यपि हमारी आकुलता इन्हीं घटनाओं

से बढ़ती है। किन्तु वस्तुतः यह चिन्तनीय नहीं है। चिन्ता का विषय वह चित्त है, जहाँ इन घटनाओं का जन्म होता है। उसी चित्त का हमें स्वस्थ निर्माण करना है। हमारा चित्त यदि स्वस्थ है तो शस्त्र भी शास्त्र बन जाते हैं। हमारा चित्त अस्वस्थ है तो शास्त्र भी शस्त्र बन सकते हैं। मूल्य शस्त्र या शास्त्र का नहीं, चित्त का है।[101] स्वस्थ चित्त और स्वस्थ चेतना का निर्माण करने हेतु आचार्य तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञ की सन्निधि में दिसम्बर 1988 लाडनूं में एक इण्टरनेशनल कांफ्रेंस आयोजित की गयी, जिसमें सहभागी 20 देशों के प्रतिनिधियों ने शस्त्रों एवं अणु आयुधों के विस्तार अथवा विस्फोट का विरोध किया और निःशस्त्रीकरण, सहअस्तित्व एवं मानवीय मूल्यों के प्रतिष्ठार्थ सक्रिय होने की तत्परता दिखायी।[102] राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय जगत् अभी स्थूल संधियों और वार्ताओं से ही विश्वशांति लाने में जुटा है, तब अशांति का आन्तरिक इलाज़ करने वाली जैन प्रक्रिया क्या उपेक्षणीय है? विश्व शांति के हिमायतियों का ध्यान इस ओर जाना चाहिए। षट् द्रव्य, नवतत्त्व, चौदह गुणस्थानों के परिप्रेक्ष्य में विश्व शांति के विविध आयाम उद्घाटित हो सकते हैं और संयम मूल्य समाज मान्य हो सकता है।

शास्त्र और शास्त्रज्ञ

शास्त्रों का प्रणयन शान्ति के लिये होता है। जो शान्ति चाहता है, वही शास्त्रज्ञ है।[103] अशान्ति चाहने वाला शास्त्र पढ़ने के उपरान्त शास्त्रज्ञ नहीं माना जाता। समस्त दर्शनों के प्रति समभाव और जिसमें राग–द्वेष का उपशमन करने की पात्रता है[104] उसके लिए माध्यस्थ भाव से युक्त एक पद का ज्ञान भी पर्याप्त है। माध्यस्थ भाव शून्य शास्त्र–कोटि भी व्यर्थ हैं।[105] जैनों के पास शान्ति को पोषण देने वाली द्वादशांगी है: आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाता, उपासकदशांग, अनंतकृत दशांग, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्न व्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद।

महावीर के उपदेशों पर आधारित यह द्वादशांगी गणधर सुधर्मा ने सुनी और अपने उत्तराधिकारी आचार्य जम्बू को सुनायी। इसे श्रुत कहते हैं। स्मृति के अनुसार यह श्रुत सुनने–सुनाने का कम चला। जब स्मृति दुर्बल हुई और दृष्टिवाद विस्मृत हुआ, तब आचार्यों ने पाटलीपुत्र, मथुरा और वल्लभी में संगीति कर 11 अंग लिपिबद्ध किये।

1. **आचारांग** : में आचार–विषयक विधि विधान है।
2. **सूत्रकृतांग** : में विभिन्न मतों का विवेचन तथा अहिंसानिष्ठ साधकों की चर्चा है।
3. **स्थानांग** : में धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीव, अणु, परमाणु का ब्यौरा है।

4. **समवायांग** : में जीव अजीव के भेदाभेद हैं।

5. **भगवती** : में लोक–अलोक, नित्य–अनित्य, जीवन–मरण से संवद्ध प्रश्नोत्तरी है।

6. **ज्ञाता** : में धर्म कथाओं के सहारे जीवन विकास का प्रतिपादन है।

7. **उपासक दशांग** : में दस आदर्श नागरिकों का व्याख्यान है।

8. **अनंतकृत दशांग** : में श्री कृष्णकालीन घटनाओं व तपस्वी महिलाओं तथा संयम साधकों का विवेचन है।

9. **अनुत्त्रोपपातिक** : में 33 ऐसे महापुरुषों का उल्लेख है, जो तप कर देवलोक को प्राप्त हुए और फिर मनुष्य बन साधना करके सिद्ध–बुद्ध–मुक्त होंगे।

10. **प्रश्न व्याकरण** : में कर्म बंध और कर्म–मुक्ति का विश्लेषण है।

11. **विपाक** : में दुःखी आत्माओं को देखकर बताया गया है कि जिन्होंने स्वयं को भौतिक माना, वे भोग में डूब गये और भोगने की आतुरता समाप्त होने पर कैसे साधुता सधती है।

इन ग्यारह अंगों के अलावा 12 उपांग, 6 मूल सूत्र, 6 छेद सूत्र, 10 पयन्ना तथा कल्प सूत्र आदि मिलाकर कुल 84 आगम **श्वेताम्बर** जैन संघ मानता है। **स्थानकवासी** और **तेरापंथी** संघ इनमें से 32 आगम ही प्रामाणिक मानते हैं। **दिगम्बर** जैन संघ को ये आगम अमान्य हैं। उसे समयसार, गोमयसार, गोमट्टसार, नियमसार, तत्वार्थसार, पंचास्तिकाय, षट्खण्डागम, द्रव्य संग्रह, सर्वार्थ सिद्धि आदि शास्त्र मान्य हैं। कुछ मान्यताओं में मतभेद के बावजूद इस बात में सभी एकमत हैं कि ये ग्रंथ निर्ग्रन्थ बनने में सहायक हैं। इनसे धार्मिक जीवन जीने की दिशा खुलती है, पर ये धर्म नहीं हैं। बहुत पढ़ने से धर्म नहीं होता। पुस्तक पिच्छि (रजोहरण) से भी धर्म नहीं होता। मठ मंदिर में रहने से या सिर का लुंचन करने से भी धर्म नहीं होता।[106] वह तो अहिंसा, संयम, तप है।[107]

जीवन व्यवहार की त्रिवेणी

अहिंसा, संयम, तप जब साधना न रहकर साधक का श्वांस प्रश्वांस बन जाता है, तब वह जिन कहलाता है। जिन–स्तुति में यह भाव अभिव्यंजित है–

> जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया।
> सब जीवों को मोक्ष मार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।
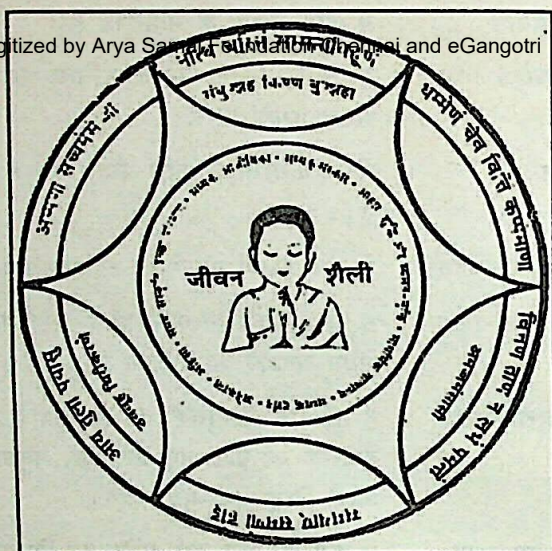
बुद्ध, वीर, जिन, हरि हर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो।

जिन के उपासक जैन कहलाते हैं। जैन घर में पैदा होकर कोई जाति से जैन भले ही कहलाने लगे, लेकिन महात्मा भगवान दीन के अनुसार जैन लफ्ज़ मायनों में जैन नहीं हो सकता। जैन बनने की एक शर्त है : यह मान लो कि हम हैं और आजाद हो सकते हैं। यह आजादी अपने अंदर ही है। मुद्दत से उसकी याद नहीं रही, जो तीर्थंकरों ने याद दिला दी। किसी तीर्थंकर ने यह नहीं कहा कि अमुक देवता को मान लो तो तुम तर जाओगे। हाँ समझते–समझाते यह प्रतीति करा दी कि देखो, जब तक तुम हमें पूजते रहोगे, तब तक हम जैसे नहीं हो सकोगे।[9] तुम्हारे में और हमारे में फर्क ही क्या है? जब तक बेभान हो, तब तक **बहिरात्मा** के अधीन हो। जब जग जाओगे, तब **अंतरात्मा** सक्रिय हो जाएगी और शान्ति के लिए समर्पित हो जाओगे तो **महात्मा** कहलाओगे। जो शान्ति व सिद्धि को उपलब्ध हो गया, वह **परमात्मा** है। 'अप्पा सो परमप्पा' आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मा की पूजा करने की अपेक्षा मन–वचन–काया का संवरण करना अधिक आवश्यक है।[10] विभूति का नहीं, अनुभूति का महत्व है।

जैनों का यह विश्वास है कि बंधन और मोक्ष अपने अंतःकरण में ही है।[11] जैनाचार्य बराबर इस बात को दुहराते हैं कि हम दूसरों की शक्ति पर निर्भर न रहें। समझ लें कि हमारी एक मुट्ठी में स्वर्ग है, दूसरी में नरक। हमारी एक भुजा में अनंत संसार है तो दूसरी में मंगलमय मुक्ति। हमारी एक दृष्टि में घोर पाप है तो दूसरी में पुण्य का अक्षय भण्डार। हम निसर्ग की समस्त शक्तियों के स्वामी हैं। कोई भी शक्ति हमारी

स्वामिनी नहीं है। हम भाग्य के खिलौने नहीं, बल्कि भाग्य के निर्माता हैं। आज का पुरुषार्थ कल भाग्य बनकर हमारे साथ होगा। इसलिए श्रम, सम व शम की उपासना करें। यह जीवन व्यवहार की त्रिवेणी है, अध्यात्म और व्यवहार का संगम।

श्रमिक आनन्द से वंचित नहीं रह सकता, यदि समाज में समता है।

समतावान आनन्द से वंचित नहीं रह सकता, यदि समाज में शान्ति है।

शान्तिप्रिय आनन्द से वंचित नहीं रह सकता, यदि समाज में श्रमिक के प्रति संवेदना और समता का भाव है।

भाग्य के खिलौने नहीं, भाग्य निर्माता

मर्यादा-प्रशिक्षण

श्रम, सम और शम की विसंगति ने न धर्म को प्रासंगिक रहने दिया है, न कर्म को, न शिक्षा सार्थक रही है, न दीक्षा, न स्वार्थ सधता है, न परमार्थ। इसके लिए दिनचर्या ऐसी बनायें कि प्रति दिन एक प्रहर पढ़ सकें, दूसरा प्रहर चिंतन चर्चा में लगा सकें, तीसरा प्रहर आजीविका के लिए परिश्रम करने में लगायें और चौथा प्रहर समाजोपयोगी सेवार्थ रहे।"[2] महावीर ने रात–दिन का किस तरह उपयोग करना है, इसकी स्पष्ट चर्चा की है। श्रमण के लिए तीन–तीन घण्टे की चर्या नियत है, वैसे ही श्रावक–श्राविकाओं की चर्या चर्चित है।
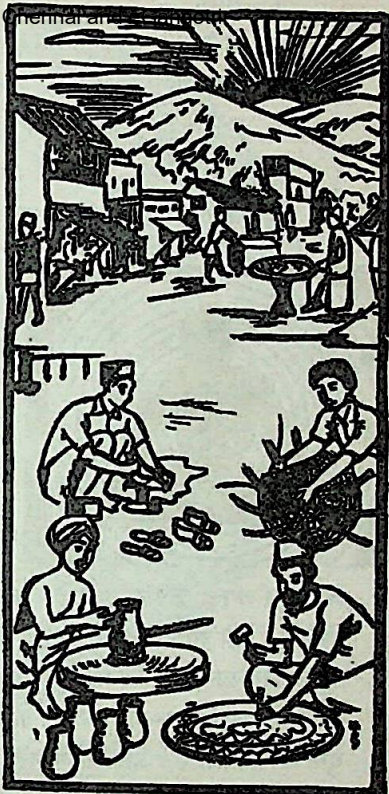
14 नियम खास ध्यान देने योग्य हैं, इनसे पर्यावरणीय संकट टलता है, प्रदूषण मिटता है, पशु–पक्षी व पदार्थों के प्रति सदय भाव में वृद्धि होती है, अनावश्यक भाग–दौड़ समाप्त हो जाती है और खाद्य–अखाद्य की मर्यादा नियत होती है।

1. सचित्त – अन्न, जल, फल–फूल आदि।
2. द्रव्य – रोटी, दाल, भात आदि।
3. विगय – दूध, दही, घी, तेल आदि।
4. उपानह – जूते, चप्पल आदि।
5. ताम्बूल – मुखवास, पान, सुपारी आदि।
6. वस्त्र – पहनने, ओढ़ने के वस्त्र आदि।
7. कुसुम – फूल, इत्र आदि।
8. वाहन – घोड़ा, हाथी, जहाज आदि।

9. शयन — पलंग, खाट, सोफा, बिछौना आदि।
10. विलेपन — चंदन, तेल, उबटन आदि।
11. ब्रह्मचर्य — विषय भोग की मर्यादा।
12. दिशा — ऊँची, नीची, तिरछी दिशा में जाने की मर्यादा।
13. स्नान — जल का विवेक पूर्वक उपयोग करने की, मर्यादा।
14. भक्त — मिष्ठान्न आदि भोजन की मर्यादा।

मर्यादा सिखाने का मनोवैज्ञानिक ढंग है। कोई आम खाना चाहता है। वह आम का पेड़ न काटे। शाखा पर कुठाराघात करने से बचे। डाल भी न काटे। कच्चे–पके आम भी क्यों गिराये? पके आम तोड़ ले। जो पके आम नीचे गिर पड़े हो, उन्हीं से काम चलाना सर्वोत्तम है। सीधी सपाट सिखावन। आवश्यकताओं के सम्बन्ध में विवेकपूर्ण व्यवहार करने की दृष्टि। संवेदना का समता तक विस्तार। समता के लिए प्रतिदिन कम से कम 48 मिनट की समता– साधना अपेक्षित होती है। उसे सामायिक कहते हैं। सामयिक लेने वाला व्यक्ति किसी स्वच्छ स्थान पर 'करेमि भंते सामाइयं' कहकर स्थिर बैठता है। आहार, भय, मैथुन सम्बन्धी ऊहापोह छोड़ता है। स्त्री–कथा, देश–कथा, राज–कथा, खान–पान–कथा के बहाने विकथा नहीं करता। दुर्भाव से बचता है। आक्रोश में नहीं आता। न आर्त (दुःख) चिन्तन, न रौद्र (संहारक) विचार। धर्म मूलक सद्भाव बढ़ाने वाली स्वाध्याय वृत्ति। स्वाध्याय में भी कामा, मात्रा, अनुस्वार, पद, अक्षर के प्रति पूरी जागरूकता। इसके बावजूद स्खलन हो तो 'मिच्छामि दुक्कडं', पश्चाताप परक आत्मालोचन करना। जब आलोचना दूसरों (श्रमण, श्रमणी श्रावक, श्राविका) के समक्ष हो तो संलेखना कहलाती है। आत्म शुद्धि का यह प्रथम सोपान है। इसके पश्चात् एक प्रहर (पोरसी), एक दिन (पोषध) या निश्चित कालावधि के लिए पापमुक्त रहने का संकल्प लेने वाला सागारी संथारा करता है। संथारे में अन्न, जल, खादिम छूट जाते हैं। जो जीवन भर के लिए पाप मुक्त रहने की मानसिकता में पहुंच जाता है, वह 'यावज्जीवन संथारा' करता है। ऐसा संथारा लेने वाला 'पंडित मरण' को प्राप्त होता है। यह 'मृत्यो मां अमृतं गमय' की आचार–संहिता है। इसकी जड़ सामायिक में रहती है।

सामायिक लेने वाले के तीन मनोरथ होते हैं :

1. वह दिन धन्य होगा, जब मैं स्वार्थ त्याग कर परमार्थ करूँगा।
   मेरी बुद्धि, शक्ति, संपत्ति और साधना परहित–साधक होगी।

तात्विक मान्यताओं में व्यापक अर्थवत्ता एवं विराट् संदर्भ की राह देखता आयागपट्ट, मथुरा सं.

2. वह दिन धन्य होगा, जब मैं राग–द्वेष आदि कषायों से मुक्त हो जाऊँगा और 'संयमः खलु जीवनम्' संयम ही मेरा जीवन हो जायेगा।
3. वह दिन धन्य होगा, जब मैं आहार–विहार, जागृति–सुषुप्ति, ज्ञात–अज्ञात अवस्था में की गयी भूलों की आलोचना कर अपने में छिपे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चरित्र, अनन्त बल को उपलब्ध हो जाऊँगा। मुझमें शुद्ध, बुद्ध मुक्त होने की पात्रता आ जायेगी।

जीवन बहुआयामी है। भावनाओं में सदा उतार–चढ़ाव आते हैं। कविवर भूधरदास जी ने 'पार्श्वनाथ–पुराण' के आधार पर 12 भावनाओं पर दोहे लिखे हैं। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्त्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि एवं धर्मभावना विषयक दोहे अक्सर जैन मंदिरों की भित्तियों पर लिखे मिलते हैं। हर स्त्री–पुरुष, बालक–बालिका को वे कंठस्थ होते हैं। श्री जमनालाल जैन ने उनकी युगानुरूप व्याख्या की है और तर्क संगत विश्लेषण भी किया है, जिनसे जैनों की जागृत जीवन शैली को अभिव्यक्ति मिली है। हम भावना जगत् में जीते हैं और व्यवहार जगत् में ज्ञान–विज्ञान बढ़ रहा है। अनेक सीमाएँ टूटी हैं। एकांगिता एवं संकीर्णता के बंधन ढीले हुए हैं। ऐसे अनुकूल

वातावरण में हमारी तात्विक मान्यताएँ भी व्यापक अर्थवत्ता एवं विराट् संदर्भ की राह देख रही हैं। अब सांसारिक सम्बन्धों और शरीरधर्म को मिथ्या मानने से काम नहीं चलेगा। हम शरीर को, आस–पास के वातावरण को, पारस्परिक सम्बन्धों को भी मैत्री परक बनायें।"[3] अपने में सबको और सबको अपने में देखें। जब लोक अपने में प्रतिबिम्बत होता है, तब जीवन धर्म बनता है। धर्म के लिए सर्वस्व का विसर्जन ही सर्व के विशेष सर्जन का जनक है, जिससे विश्वजनीन समता स्थापित होती है।

राष्ट्रवाद का बीज–वपन

स्वयं आचरित समता का संदेश देने की शुरूआत महावीर ने विपुलाचल पर की। यह राजगृह की पर्वतमाला का केन्द्र बिन्दु है। राजगृह नालन्दा, पावापुरी आदि क्षेत्रों में उनका सर्वाधिक प्रवास हुआ। मगध की राजधानी होने के कारण इसका महत्व था ही, धन–धान्य का भी यह अखूट भण्डार था। अब भी यहाँ सन, उड़द, आलू, मिर्च की फसल खूब होती है। इसे श्रमण संस्कृति की विरासत कहा जा सकता है। डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी के मतानुसार इसी स्थल पर आध्यात्मिक विचारधारा और भौतिक समृद्धि ने गठबंधन कर भारतीय राष्ट्रवाद की नींव डाली थी। यह क्षेत्र वैदिक संस्कृति के प्रभाव से मुक्त रहा। इसका अपना कला–कौशल था। राजगृह नालन्दा की खुदाई से प्राप्त पक्की मिट्टी के खिलौनों से, जिनमें स्त्री, पुरुष, राक्षस, पशुओं के चित्र हैं– मालूम पड़ता है कि इस क्षेत्र का सम्बन्ध मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृतियों से था। आर्यों के आगमन के पहले के कुछ अवैदिक तत्वों से मालूम होता है कि यहाँ पाषाण युगीन लोगों के वंशज रहते थे। इस क्षेत्र के प्रधान केन्द्र गिरिव्रज (रत्नगिरि, उदयगिरि, सुवर्णगिरि, वैभारगिरि और विपुलाचल) का उल्लेख रामायण और महाभारत में मिलता है। महाभारत कालीन वृहद्रथ और जरासंध की राजधानी यहीं थी। इतिहास प्रसिद्ध महाराज श्रेणिक– बिम्बसार और अजातशत्रु ने अपना गौरव यहीं बढ़ाया था। अजातशत्रु ने जब काशी, कौशल और विदेह को जीतकर मगध साम्राज्य का विस्तार किया, तब राजधानी पाटलिपुत्र चली गयी, लेकिन राजगृह का क्षेत्र शिक्षा का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बना रहा। राजगृह से उत्तर–पश्चिम दिशा में स्थित नालन्दा में महावीर ने 14 चातुर्मास किये। भारतीय इतिहास के मध्यकाल के प्रारम्भ में नालन्दा विश्वविद्यालय ने मनुष्य की विचारशील और राष्ट्र की रचनाशील प्रतिभा के बढ़ाने में भी योग दिया है।"[4] राजगृह से महावीर के जन्म–जन्मान्तरों के सम्बन्धों पर प्रकाश डालने वाला एक विशेष सूत्र यह हाथ लगता है कि पाषाणकालीन युग में नयसार के रूप में महावीर द्वारा चन्दन की लकड़ियों पर कारीगरी की गयी थी और स्वयं महावीर के समय या उनके निर्वाण के पश्चात् ही चन्दन की तीर्थंकर मूर्तियाँ बनने लग गयीं।"[5] भारतीय स्थापत्य का ऐतिहासिक विवेचन करने वालों के मतानुसार जैन–देवताओं का निर्माण मौर्य शासन काल में होने लगा था।

भक्ति आधारित शक्ति पूजा

प्राचीन सरस्वती प्रतिमा
कंकाली टीला (रा.सं., लखनऊ)

जैन समाज तीर्थंकरों को देवाधिदेव मानता है। उनकी उपासना करने वालों में देव–देवियों की भी गणना होती है। हर तीर्थंकर के साथ एक शासनदेव, एक शासन देवी, चौसठ चामरधारी यक्ष मूर्तियाँ मिलती हैं। इसी तरह सोलह विद्या देवियों, छप्पन कुमारी देवियों, दिक्पालों तथा चौसठ योगिनियो का भी यत्र–तत्र उल्लेख हुआ है। जैनों का विश्वास है कि तीर्थंकर जब पैदा होते हैं, तब नवजात शिशु तथा उनकी जननी के लिए दिक्कुमारियाँ आवश्यक साधन–सुविधाएँ जुटाती हैं और जन्मोत्सव आयोजित करती हैं। चक्रेश्वरी आदि शासन देवियों की प्रतिमाएं प्रयाग संग्रहालय में हैं। मथुरा के कंकाली टीले से जिन प्रतिमाओं के संग मिली देवियों की भाव–भंगिमाएं स्थापत्य कला की दृष्टि से बेजोड़ हैं। एक वेदिका पट्ट पर आठ दिक्कुमारी देवियाँ नृत्य मुद्रा में अंकित हैं। वे शक्तिदायिनी हैं।

वाग् देवी–सरस्वती की मूर्तियाँ भी जैनों ने बहुत बनवायी हैं। विद्याराधन के लिए सामान्यतः 16 देवियों का बहुमान किया जाता है।"[6]

पुस्तक धारिणी सरस्वती की प्रतिमाएं अनेक जगह प्रतिष्ठित हैं। आबू में 16 देवियों की प्रतिमाओं की स्थापना की गयी थी और ललितपुर जिले के अन्तर्गत देवगढ़ से प्राप्त पुरा तत्वावशेषों में जैन मन्दिर के बाहरी बरामदे में विराजमान चतुर्भुजी सरस्वती प्रतिमा है। उसके साथ वहाँ गरुड़वाहिनी चक्रेश्वरी, अष्टभुजी वृषभवाहिनी ज्वालमालिनी तथा कमलासना पद्मावती की कलापूर्ण मूर्तियाँ भी मिली हैं। खजुराहो जैन मंदिर के प्रवेश द्वार पर भी दस भुजी देवीमूर्ति है। सारे देश में जहाँ भी जैन प्रतिमाएं प्रतिष्ठित हुईं, वहाँ देव–देवी मूर्तियाँ भी स्थापित हुईं।"[7] उनकी पूजा कर रोग, शोक, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वैर–विरोध से छुटकारा दिलाने के साथ लाभ–शुभ प्राप्ति की इच्छा निवेदित की जाती है।"[8] विशेष अवसरों पर तीन दिन का उपवास रखकर देवी का आवाहन भी किया जाता है।

देव पूजा में व्यक्तिगत हित–रक्षण की जितनी याचना होती है, उससे अधिक सामूहिक हित–साधना का भाव रहता है। पूजा–पद्धति के लिए जैन कभी रूढ़ नहीं होते। वे लोक भावना के अनुरूप अनुष्ठान करते हैं। आचार्यों का उन्हें स्पष्ट दिशा–निर्देश है कि वे लोकाचार का पालन करें।"[9]

जैनों के सारे व्रत–नियम इन्द्रिय जय को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं। दान, दया, शील, तप, सेवा–समता मूलक आचार संयम साधक हैं। जो संयमी सिद्धि पाये

बिना शरीर छोड़ता है, वही स्वर्ग जाता है और देव बनता है। देव होने के बाद भी उसके अन्तःकरण में उत्कृष्ट साधना का आकर्षण रहता है। इसी कारण राजा परदेशी आदि जितने व्रतधारी मरकर देव हुए, वे महावीर की वन्दना करने आये। देवों द्वारा महावीर जैसे देवाधिदेव की उपासना करने वाली कथाओं के जरिये जैनों ने शक्ति को भक्ति से अनुस्यूत कर रखा है। वे देवी–देवताओं के आगे नत–मस्तक होकर भी देवी–देवताओं से तीर्थंकरों को बहुत ऊँची भूमिका प्रदान करते हैं। देवों का काम केवल श्राप या वरदान देना और भोग लेना है, जबकि मानव को अपना खून–पसीना व आँसूओं का भोग देकर दूसरों का हित साधना है। उसे स्वार्थ से परार्थ और परार्थ से परमार्थ के पथ पर उत्तरोत्तर आगे बढ़ना है। देवी–देवता इस पथ पर नहीं बढ़ सकते। वे सूर्य की भाँति प्रकाशमान और सौधर्मेन्द्र की तरह वरदान देने में सक्षम होने पर भी विषय तृष्णा वश रहते हैं।

महावीर ने अनुभव कर कहा कि जो एक माह तक संयम पालता है, वह वाण व्यंतर देवों से अधिक सुखानुभूति करता है। दो माह में भवनपति, तीन माह में असुरकुमार, चार माह में ज्योतिषी, पाँच माह में सूर्य–चन्द्र और छः माह में संयमी इन्द्र से अधिक सुख पा लेता है। जिन्हें सात माह में अमरेन्द्र और आठवें माह में ब्रह्मलोक से अधिक सुख नहीं मिलता, उनकी संयम निष्ठा में कहीं कमी है। कहते हैं कि एक बार किसी आदमी ने ब्रह्मा की आराधना की। ब्रह्मा प्रकट हुए और उससे इच्छित फल माँगने को कहा। उसने अपना दारिद्र्य दूर करने के लिए चिन्तामणि रत्न माँग लिया। ब्रह्मा ने कहा– जाओ, नदी के किनारे एक साधु तपस्या कर रहा है, उससे ले लो। वह साधु के पास पहुँचा। साधु ने उसे कुछ दूरी पर खड़े पेड़ के नीचे पड़ी मिट्टी की ओर संकेत किया। मिट्टी से सना रत्न मिलते ही उस आदमी के मन में उथल–पुथल होने लगी और सोचने लगा कि जिस अनमोल रत्न को पाने हेतु मुझे ब्रह्मा की आराधना करनी पड़ी, उसे इस साधु ने मिट्टी मान रखा है तो जरूर इससे भी कीमती चीज उसके पास है। उस आदमी ने तत्काल चिन्तामणि रत्न फेंका और साधु का शिष्य बन गया। उसकी साधना और तपस्या के आगे देवता झुक गये।

यह कोरी कथा नहीं है, जीवन की सच्चाई है। देवों के सुख–लावण्य–समृद्धि–श्री आदि एक न एक दिन समाप्त हो जाते हैं और आयु क्षय होने पर उन्हें फिर मनुष्य जन्म में आना पड़ता है, लेकिन यह मनुष्य है जो अपनी साधना के बल पर जन्म–मरण के फेर से बचकर सिद्ध–बुद्ध–मुक्त हो जाता है। सिद्धि शाश्वत व अनन्त सुख प्रदायिनी है। समस्त देवों के सुख मिलकर भी सिद्ध के सुखों के अनन्तवें भाग की बराबरी नहीं कर पाते। इसलिए अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ने को उत्सुक मनुष्य सिद्ध की आराधना करता है और उनसे त्याग की प्रेरणा ले अपनी क्षमता का साक्षात्कार करता है।

सिद्ध–आत्मा की पूजा उपासना से कामनाजयी हुआ जा सकता है, किन्तु कामनाएँ
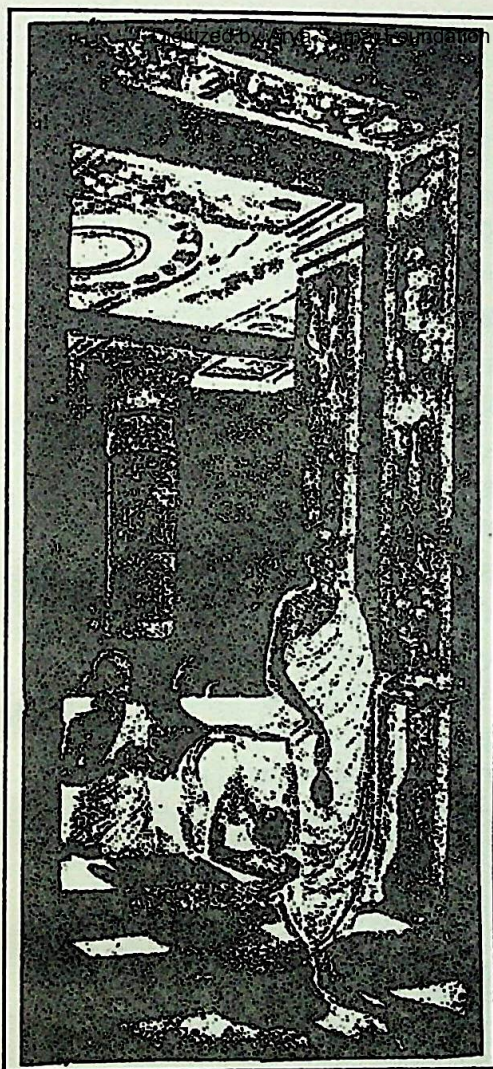
अजन्ता का कला मण्डप

आसानी से छूटती नहीं। जो सकाम भाव से तीर्थंकर आदि की आराधना करते हैं, उनकी कामनाएँ अम्बिका, चक्रेश्वरी, पद्मावती, काली, महाकाली आदि देवियाँ पूरी करती हैं। इसीलिए जब तक मन में कामना है, वचन से कुछ कहना है और तन से कुछ करना है, तब तक इनकी पूजा–अर्चा होती रहेगी।

भक्ति आधारित शक्ति पूजा की अवधारणा मौलिक है और मानवीय भी। यह भारतीय संस्कृति की रमणीयता में वृद्धि करती है। इसमें अंध श्रद्धा का अस्वीकार, अश्रद्धा का परिष्कार एवं श्रद्धा का स्वीकार करने वाली संयुति है। कदम–कदम पर साध्य की स्मृति दिलाने वाली इस शक्ति पूजा से पुरुषार्थ का परिमल बिखरता है और परमार्थ की सुवास आती है।

शैल गृह बनाम शासन गृह

पार्श्वनाथ, महावीर की श्रमण परंपरा के साधु–साध्वियों के समूह गाँव–नगर से बाहर बने बगीचों में ठहरते थे। उनमें कहीं देवस्थान होते थे तो कहीं यक्षायतन। जब वे स्थान नागरिकों के क्रीड़ास्थल बने, तब श्रमणों के लिए शैलगृह बनाये जाने लगे। महाराष्ट्र की अजंता गुफाएं उनका आवास केन्द्र रहीं। बिहार में शैल गृहों की ओर संकेत करने वाले गया के समीप बराबर नामक पर्वतगुफाओं में कई शिला लेख मिले हैं। बराबर पहाड़ी से कुछ दूर नागार्जुनी नामक पहाड़ी है। वहाँ भी मौर्यकाल में साधुओं के लिए शैलगृह बनाये गये। भारतीय साहित्य में पर्णशालाओं के उल्लेख मिलते हैं। उन्हीं के ढंग पर शैल गृहों का निर्माण किया गया। ई.पू. दूसरी और पहली शती में उड़ीसा तथा पश्चिमी भारत में पर्वतों को काटकर देवालय बनाने की परम्परा विकसित हुई। उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट कई बड़ी गुफाएँ पत्थर की चट्टानें

काटकर बनायी गयी। वहाँ खण्डगिरि, उदयगिरि नामक जैन गुफाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। तीसरी गुफा का नाम हस्ती गुफा है। उसमें कलिंग के जैन शासक खारवेल का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। लेख से ज्ञात होता है कि ई.पू. चौथी शती में मगध का राजा महापद्मनन्द तीर्थंकर की एक मूर्ति कलिंग से अपनी राजधानी पाटलीपुत्र उठा ले गया था, खारवेल ने ई.पू. दूसरी शती के मध्य में उस प्रतिमा को मगध से अपने साम्राज्य लौटा लाकर पुनः प्रतिष्ठित किया।[120] मौर्य साम्राज्य के पतन और गुप्त साम्राज्य के दौरान बहुत कुछ अघटित घटा, जिससे जीवन व्यवहार में विसंगतियाँ आ गयीं।

ई.पू. छठी सदी से भारत की केन्द्रीय सत्ता मगध के पास रही। जब तक मगध शासकों ने पश्चिमोत्तर भारत को अपने अधीन नहीं किया, तब तक ईरानी–यूनानी आक्रमण होते रहे। ई.पू. 328–325 के बीच सिकन्दर ने सैंतीस नगरों को जीता, तब वहाँ के शासकों ने उसे सोना, चाँदी, वस्त्र, बैल दिये, जिनमें से दो लाख तीस हजार बैल उसने मकदूनिया में खेती–काम के लिए भेजे। बढ़ई और लुहारी का काम करने वालों से भी उसने व्यापारिक नौकाएं तथा युद्धपोत बनावाये।[21] लेकिन सिकन्दर के लौटते ही चन्द्रगुप्त की चल निकली। वह ई.पू. 321में मगध के राजसिंहासन पर बैठा और चाणक्य की मदद से उसने मगध साम्राज्य का सीमा–विस्तार किया। माना जाता है कि लगभग 24 वर्ष सफल शासन करने के बाद वह जैन संघ में दीक्षित हो गया। भद्रबाहु चरित्र और मैसूर में मिले शिलालेखों के आधार पर साबित होता है कि जब उत्तर भारत में भीषण अकाल पड़ा तब आचार्य भद्रबाहु के साथ सुदूर दक्षिण में बेलगोला नामक स्थान पर मुनि चन्द्रगुप्त ने समाधि मरण (अनशन कर देह त्यागना) प्राप्त किया। मौर्य शासकों में सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार में जितनी शक्ति लगायी, लगभग उतनी ही शक्ति बाद में सम्राट् सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार में लगायी। उसे द्वितीय चन्द्रगुप्त माना गया, जिसका देहान्त 207 ई.पू. हुआ, सुप्रसिद्ध जैनाचार्य सुहस्ति का वह शासनकाल था।

अन्तिम मौर्य सम्राट् वृहद्रथ के समय विदेशी आकान्ता भारत भूमि पर चढ़ाई करते–करते अयोध्या तक चढ़ गये। उनका प्रतिरोध करने का दायित्व सम्राट् ने अपने सेनापति पुष्य मित्र को सौंपा। उसने आकमणकारियों को खदेड़ दिया। विजयश्री उसे मिली। विजयोन्माद में उसने महाराज वृहद्रथ की हत्या कर दी और स्वयं को मगध का सम्राट् घोषित कर दिया। 'उत्तर भारत और दक्षिण पथ के कुछ भू–भाग पर अपना साम्राज्य स्थापित करने के बाद नियमतः अपना प्रभुत्व प्रदर्शित करने के लिए पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किये।[22] पुष्यमित्र श्रमणों का घोर विरोधी था। उसने बौद्धों को सताया और पूर्वी भारत में वैदिक धर्म फैलाया। लेकिन दूसरी ओर उसी दौरान कलिंगाधिपति खारवेल ने दक्षिण में जैनधर्म का प्रचार किया। आचार्य सुशील मुनि के अनुसार वह जैनधर्म का अनन्य उपासक था। उसके समय दुष्काल के कारण बहुत–सा साहित्य

नष्ट हो गया था। लेकिन खारवेल ने फिर आर्य महागिरी की परंपरा के बलिस्सह,

बोधिलिंग, धर्मसेन, नक्षत्राचार्य आदि जिन कल्पी वृत्तिवाले दो सौ साधुओं और आर्य सुस्थित, उमा स्वामी, श्यामाचार्य आदि तीन सौ मुनियों को एकत्र कर जैन साहित्य का पुनरुद्धार कराया।

जैन समाज में शास्त्र–स्वाध्याय पर बहुत जोर दिया जाता है। जैन मन्दिरों के तहखानों में जगह–जगह शास्त्र भंडार बनाये गये हैं, जहाँ ताड़पत्रीय ग्रंथ एवं हस्तलिखित आगम सुरक्षित हैं। राज्याश्रय के बिना भी समाज ने शास्त्र संरक्षित किये, इसे स्वाध्याय प्रेमियों की समय सूचकता कहा जाय या श्रवण–ब्राह्मणों की सहभागिता का अवदान? अनेक जैनाचार्य जन्मना ब्राह्मण होने के कारण शास्त्र संरक्षण, शास्त्र–प्रणयन व शास्त्र लेखन के प्रति सजग रहे हैं।

मौर्य एवं गुप्त साम्राज्य में जैनों की प्रभावना में कहीं कोई कमी नहीं आयी। राज्याश्रय प्राप्त करके जैनाचार्यों ने अपनी प्रतिभा का लाभ समाज को दिया, वैसे ही बिना राज्याश्रय के भी वे समाज की उन्नति में परिपूरक रहे। उनकी सृजनोन्मुखी सेवा से देश की विशेष उन्नति हुई, जिसका लाभ ईसा की चौथी शताब्दी तक परिलक्षित हुआ।

द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासनकाल में चीनी यात्री फाहियान भारत आया। उसने अपने यात्रा–विवरण में लिखा है कि उस समय इस देश में किसी के द्वारा प्राणि–हिंसा नहीं होती थी, कोई शराब नहीं पीता था। मुर्गे, बतख कोई नहीं पालता था। गाय–बैल कोई नहीं बेचता था। बाजार में कसाई की कहीं दुकान नहीं थी। हिन्दुस्तान के लिए यह समय स्वर्णयुग जैसा था।

हर्ष के शासनकाल में ह्वेनसांग इस देश में आया था। उस समय गोहत्या का तो निषेध था ही, गधा, हाथी, घोड़ा, सूअर, कुत्ता, सियार, भेड़िया, शेर, बन्दर आदि जानवरों का माँस भी वर्ज्य था। जो कोई इन प्राणियों का माँस खाता, वह अन्त्यजों में गिना जाता था।

ह्वेनसांग के आने से लगभग 60 वर्ष पहले पश्चिम मालवा प्रदेश में शिलादित्य का शासन था। वह इस बात की सावधानी रखता था कि उसके राज्य में एक मक्खी की भी हिंसा न होने पाये। हाथी, घोड़े को छानकर पानी पिलाया जाता था, जिससे उस पानी में रहने वाले जीव–जन्तु न मरें।

गुप्त राजा सनातनधर्मी थे और हर्ष–शिलादित्य आदि बौद्ध थे। आचार–विचार में उनपर जैनों का असर रहा। जैनाचार्य अपना वर्चस्व बनाये रखने हेतु दक्षिण की ओर चले गये, जो फिर महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान होते हुए दिल्ली दरबार तक जब तब चमत्कार दिखाते रहे। जैनाचार्यों के कारण जो सम्पदा समाज एवं राष्ट्र के निर्माण में लगती थी, वह कर्मकाण्डों में लगने लगी। दृष्टि क्या बदली, सृष्टि भी बदल गयी। श्रमण

जन–जन को जिम्मेवार बनाने में जुटे रहे, वहाँ आत्मा जगन्नियंता की आड़ में जिम्मेवारी से किनारा कसने लगे।

उत्कृष्ट जन सेवा

महावीर के निर्वाणोपरांत कुछ ही वर्षों में अकाल पर अकाल पड़े। फसलें मारी गयीं। आजीविका के साधन छिन्न–भिन्न हुए। आचार्य भद्रबाहु अपने संघ के साथ दक्षिण चले गए और आचार्य स्थूलिभद्र नेपाल। केन्द्रीय सत्ता मगध में केन्द्रित हो गयी। तब अकालग्रस्त लोगों की सेवा बचे–खुचे जैन श्रमणों ने की। उन्हें आचार्यों का निर्देश मिला था कि जहाँ भी भिक्षा लेने जाओ, वहाँ श्रमणोपासक के द्वार पर कोई याचक खड़ा हो तो उसे लांघ कर गृह आंगन में प्रवेश न करो। अनिवार्यतावश घर में पहुँच भी जाओ तो श्रमणोपासकों से पहले याचक की आवश्कता पूरी करने को कहो। इस पर भी अनसुनी करें तो तुम उसके लिए खाना ले आओ। तुम्हारी लायी हुई भिक्षा ग्रहण करने में उसे संकोच हो तो तुम उसे अपने साथ भोजन करने के लिये निमंत्रित करो।[123] क्या समय था, जब बारह–बारह वर्ष तक पानी नहीं बरसता था। ऋषि कहलाने वाले अखाद्य खाना स्वीकार करते थे, तब गरीब को कौन पूछता? गोधन की सुध किसे थी? श्रमणों ने जहाँ–तहाँ गोशालाएँ खुलवायीं, अन्न सत्र चलवाये। वि. सं. 1312–1315 में पड़े दुर्भिक्ष के समय गुजरात, मालवा, सिंध और काशी नरेश तक को प्रजा के लिए जगडूशाह ने अन्न उपलब्ध कराया।[124] इस तरह कई सदियों तक जैनों ने जो सेवा की, उसकी झाँकी अनेक लोक–कथाओं में मिलती है। शील और सम्मान की रक्षा चाहने वाले जब विषपान कर जीवन लीला समाप्त करने को उद्यत हुए, तब जैनाचार्यों ने विदेशों से अनाज भर
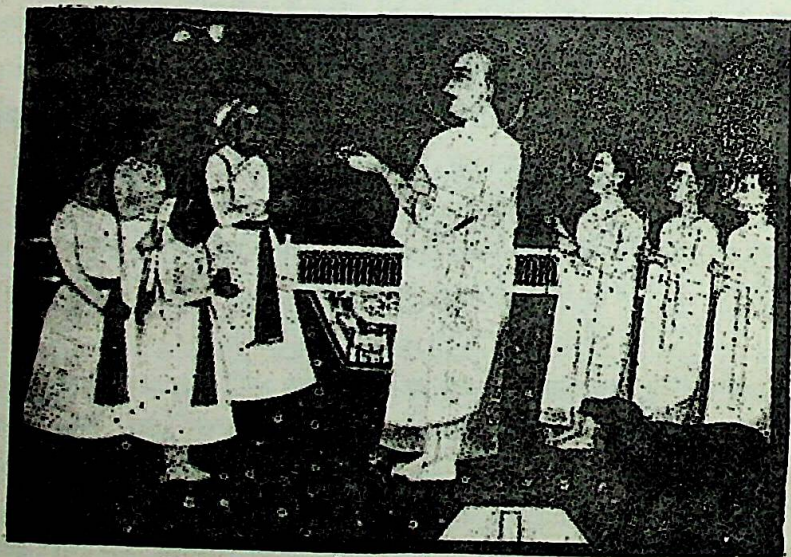
सम्राट अकबर को जीव हिंसा रोकने का उपदेश

लाये जहाजों के मालिकों को बोध दिया, दानशालाएँ खुलवायीं। इसी तरह महामारियों

के समय जनता का जीवन बचाया। विपदा से उबारने में जो जैनाचार्य अग्रणी रहें, वे 'दादागुरु' कहलाये। विभिन्न प्रदेशों में दादावाड़ी नाम से उनके स्मारक बने हैं। जीवन–रक्षक के रूप में जैनों द्वारा की गयी सेवा का अध्ययन अपेक्षित है। पार्श्वनाथ की धर्माधारित सामाजिक क्रान्ति नये सन्दर्भ में इन्हीं आचार्यों ने क्रियान्वित की और आहार–विहार शुद्धि कायम रखी। अकबर आदि मुगलशासकों को भी अहिंसा का विचार समझाया जिसके चलते निर्धारित दिनों पर जीव हिंसा न करने के फरमान निकले।

जैनेतर समाज ने खान–पान में निरामिष भोजन के प्रति लचीलापन दिखाया, जिससे मांसाहारी बढ़े और गायों की अवध्यता नहीं रही। गायों को वध्य मानने वालों का चंचु प्रवेश हुआ।'[125] राजनैतिक दाँव–पेंच चले। राजाओं के मंत्री पुरोहित थे, जो स्वयं त्याग से अधिक भोग करते थे। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में– 'राज्यरक्षा, भोग–विलास, परिवार की पुष्टि और सबसे बढ़कर पुरोहितों की तुष्टि के लिए राजा लोग सूर्य की भाँति प्रजा का शोषण करने लगे।[126] उन पर विदेशी आक्रमण हुए। जो आक्रांता भारत में बस गये और भारतीय जनता के सहजीवी हो गये, वे चैन से रहे। शेष बेचैन रहे। 'एक आध शासक को छोड़कर किसी मुगल शासक की सल्तनत मजबूत नहीं थी।'[127] इसीलिए 17वीं सदी में अंग्रेजों की सत्ता कायम हो गयी। इतिहास–विद् डॉ. ताराचन्द ने एक वाक्य में इसका सारांश प्रस्तुत किया है : 'दे केम, दे सॉ एण्ड दे कांकर्ड' वे आये, उन्होंने देखा और भारत को जीत लिया। जवाहरलाल नेहरू तफसील में गये। उन्होंने लिखा कि हमने मानव–अध्यवसाय के क्षेत्र में, विचार में, कर्म में, कला में, साहित्य में, संगीत में महान पुरुष पैदा किये। फिर भी इस सारी महानता का लाभ इसलिए नहीं उठा सके कि हममें फूट रही है और अपने–अपने रास्ते चलने की प्रवृत्ति रही है। हम दुर्बल रहे और अक्सर बाहर से आने वाले विदेशियों ने हमको दबाकर गुलाम बनाये रखा। मेरे विचार से यह कहना सही होगा कि जो भी विदेशी यहाँ आये, वे शायद ही हिन्दुस्तान को वास्तव में जीत सके। अंग्रेज भी, कहीं और बढ़िया हथियारों के बावजूद हमें वास्तव में नहीं जीत सके। उन्होंने सिर्फ हिन्दुस्तान की फूट का फायदा उठाया।[128] परतंत्रता के लिए अहिंसा को जिम्मेवार ठहराया गया। अहिंसक बदनाम हुए, जबकि अधिकांश बौद्ध भारत से निष्कासित होने के कारण विदेश चले गये, परन्तु जैनों ने देश के इस कोने से उस कोने तक अपनी प्रतिभा और पराक्रमप्रियता दिखायी थी। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के मतानुसार गुजरात के इतिहास के विजयी दिवसों में सत्ता, प्रभाव और विद्वत्ता जैनों में ही थी। उन्होंने विजयी समय को चार युगों में विभाजित किया है–

1. विमल शाह का युग, जब कि जैन सेठ व्यापार की अपेक्षा युद्ध ही अधिक करते थे और व्यापारी पेढ़ियाँ स्थापित करने से पूर्व राज्य तथा नगर की स्थापना करते थे।
2. मीनल देवी का युग, जबकि ब्राह्मण मत और जैन मत की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी और शनैः शनैः ब्राह्मण मत का प्रभाव घटा।
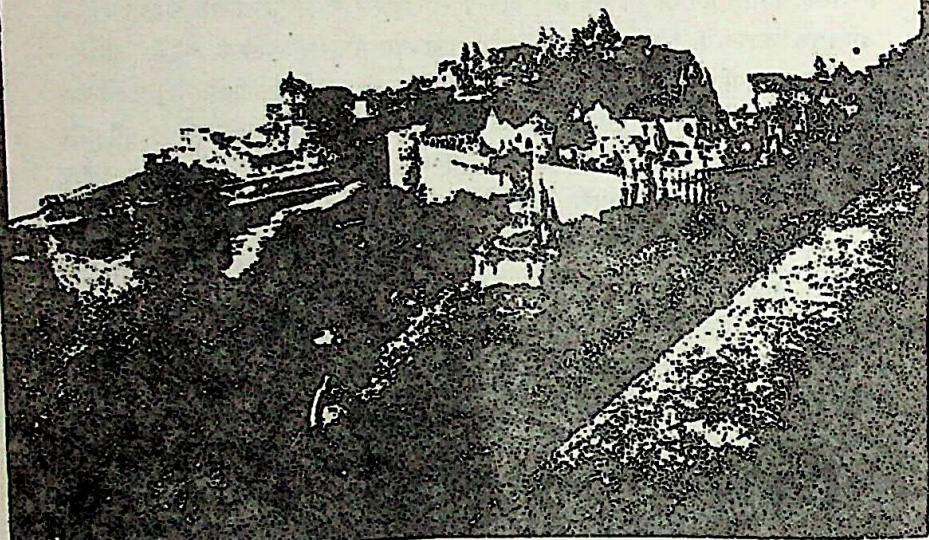
जैन तीर्थ शत्रुंजय

3. हेमचन्द्राचार्य का युग, जबकि इस अग्रगण्य गुजरात के ऐतिहासिक पुरुष ने जैन मत और ब्राह्मण मत का विरोध अपने चातुर्य से बहुतांश में निकाल दिया था।
4. कुमार पाल का युग, जबकि जैन मत पाटण के सिंहासन पर बैठा।

महावीर के बाद जैन धर्म की प्रभावना इसी युग में हुई और इसी में जैनाचार्यों ने अनेक विध साहित्य रचकर न केवल अपना, अपने धर्म का, अपितु भारतीय संस्कृति व साहित्य का मस्तक भी ऊँचा किया था।[29] हिन्दी के आदिकाल को सँवारने वालों की अग्रिम पंक्ति में हेमचन्द्र, सोमप्रभ सूरि, मेरुतुंग आदि आचार्य उल्लेख्य रहे हैं।[30] वे सुमति साधक थे- 'जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।'

दुविधा में दोऊ गये

हिन्दुस्तान की पराधीनता का कारण इसका सम्पन्न होना भी था। पहले विदेशी राजाओं, उद्योगपतियों और मन्दिरों की सम्पत्ति लूट ले जाते थे। अंग्रेज हीरे–जवाहरात, लाख, दवाइयाँ., अफीम, संगमरमर, ढाका की मलमल भी ले जाने लगे। नयी दुनिया की खोज में निकला कोलम्बस ई. 1492 में भारत से कामधेनु (गाय) और कल्पतरू (गन्ना) अमेरिका ले गया। 1788 में अंग्रेज आस्ट्रेलिया ले गये। 18वीं सदी में 10 लाख कपड़े के थान इंग्लैण्ड गये।[31] बाद में जब इंग्लैण्ड की मिलें काम करने लगीं तो अंग्रेजों ने भारतीय किसानों से कच्चा माल पैदा करवाया और बुनकरों की कलाइयाँ काट लीं। इतिहास से सबक लेकर भारतीय न एक बने, न नेक बने। सार्वभौम राजाओं और सम्राटों

की कथा–वार्ताएँ करते हुए भी न उन्होंने संगठित शौर्य दिखाया और न ही आत्मबल से सामना किया। वे भक्ति, कर्मकाण्ड एवं दर्शन की सूक्ष्म चर्चाओं में उलझे रहे, तब समाज–सुधारक आगे बढ़े ।

उससे भी ज्यादा भारी बात थी, उत्पादन, वितरण और आवागमन के तरीकों में क्रान्ति, जिसकी शुरुआत इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुई। चुपचाप बिना किसी रोक–टोक के वह क्रान्ति यूरोप और अमेरिका में फैल रही थी और करोड़ों मनुष्यों के नजरियों और जुदा–जुदा वर्गों के आपसी सम्बन्धों को बदल रही थी। मशीनों की खटाखट से नये–नये विचार निकल रहे थे और एक नयी दुनिया तैयार हो रही थी। यूरोप दिन पर दिन ज्यादा कार्यकुशल और संगदिल, ज्यादा लोभी, साम्राज्यवादी और बेदर्द बनता जा रहा था।[132] उसे महात्मा गाँधी ने चुनौती दी, जो जैन सन्तों से माँस, मदिरा और परस्त्री संग से दूर रहने का संकल्प ले चुके थे। असहयोग और सत्याग्रह के बल पर अहिंसा की सामूहिक शक्ति प्रकट हुई। भारतीयों से सीधी बातें कही गई कि हमारे सामने जिस प्रकार के प्रश्न हैं, वैसे दूसरे देशों के सामने नहीं है। हमें अनेक दलों का और परस्पर विरोधी रवैयों का मुकाबला करना है। शुद्ध और सच्चे उपायों के सिवा अन्य किसी प्रकार क्या हम एकता प्राप्त कर सकेगें?[133] प्राचीन हिन्दुस्तान युद्ध कला जानता था। हिंसा करने की शक्ति उसमें थी। परन्तु उसने इस प्रवृत्ति को यथा–शक्ति अधिक से अधिक कम किया और दुनिया को दिखाया कि मारने से न मारना ज्यादा अच्छा है।[134] यहाँ कुछ लोगों ने दूसरे देशों की अपेक्षा अहिंसा के सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने के प्रयत्न किये हैं।[135] उन प्रयत्नों को आगे बढ़ाना जनता को रुचिकर लगा।

श्रीमद् रायचंद से लेकर अनेक जैन संतों व श्रावकों ने गाँधीजी का न केवल समर्थन किया, वरन् उनके आन्दोलन में सहभागिता निभाई। अहिंसा शास्त्र की भाँति शस्त्र बन गयी। वह श्रमण संस्कृति का विधायक कदम था। ऋषभ पुत्र भरत ने शस्त्र युद्ध की जगह दृष्टि–युद्ध किया था, वैसे गाँधीजी ने शोषण के साधन उलटे, जिससे कातने–बुनने वाले सैनिक बन गये और उत्पादन के साधन बन गये शक्ति स्रोत। वही देखकर तत्कालीन वाइसराय के मुँह से निकल पड़ा था कि अगर गाँधी हिंसा की लड़ाई लड़ें तो हम कुचल सकते हैं, लेकिन वे तो चूल्हा, चक्की व चरखे की लड़ाई करते हैं। उनके ऐसे अहिंसात्मक शस्त्रों से लड़ने की शक्ति ब्रिटिश सल्तनत के पास नहीं है। अहिंसा की बदौलत जिन अंग्रेजों के राज में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, वे भारत का शासन भारतीयों को सौंप गये। भारत आजाद हो गया। लेकिन भारतीय जन–गण अहिंसानिष्ठ नहीं हुआ। निष्ठा हिंसा की है और श्रद्धा अहिंसा की। पूजा महावीर की और नेतृत्व वीर का अपेक्षित है। इसी से न हिंसा प्रभावी है, न अहिंसा, न

स्वावलंबन सधा, न स्वदेशी व्रत निभा, न अशांति के कारण घटे, न समाधान ही प्राप्त

हुआ।

दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम।
असली से वास्ता नहीं, नकली दुआ सलाम।।

जीवन, जीविका और जगत्-द्रोह से बचें

अहिंसा की साधना करने वाले नैतिक और पवित्र बनने की चर्चा करते रहते हैं, किन्तु उनका जीवन व्यवहार हिंसा पर आधारित रहता है। चिंतक पूछते हैं कि हम उन करोड़ों श्रमिकों के लिए क्या करते हैं, जो हमें अन्न–वस्त्र उपलब्ध कराते हैं और जिनके चलते हम श्रममुक्त बने बैठे हैं। श्रम मुक्त रहकर श्रमिक के साथ समता स्थापित नहीं की जा सकती। शोषक व शासक रहकर शोषित व शासित के साथ समानता की बात करना बेमानी है। वर्ण भेद के रहते विश्व शांति कैसे सम्भव है? जीवन–परिवर्तन व जीविका–परिवर्तन की संगति जागतिक जीजिविषा के साथ बिठाने के लिए गाँधीजी ने एकादश व्रत निर्धारित किये।[136] परम्परागत रूप में अहिंसा की चर्चा करने वालों ने शरीर–श्रम, अस्वाद, अभय, सर्वधर्म समानत्व, स्वदेशी तथा स्पर्श भावना का व्रत लिया एवं हिंसादि कार्यों में लिप्त जनों ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत मान्य किया। यह श्रमण संस्कृति तथा ब्राह्मण संस्कृति एवं अध्यात्म तथा व्यवहार के बीच की दूरी पाटने वाली आचार–संहिता है। इसके साथ एक प्रहर की शिक्षा, एक प्रहर की सत्संगति, एक प्रहर का उत्पादन और एक प्रहर की समाज सेवा जुड़ जाय तो उपभोक्तावाद की जगह उपयोगितावाद ले सकता है।

हमारे अन्तःकरण में यह बात गहरे बैठनी चाहिए कि हम रात–दिन हिंस्र बनकर नहीं जी सकते और न काम, क्रोध, लोभ, दंभजन्य तनावों में ही रह सकते हैं। जहाँ भी तनाव बढ़े कि 'स्ट्रगल ऑफ एक्जिस्टेन्स' के नाम पर हिंसा होने लगती है। मालिक–मजदूर, शासक–शासित, ऊँच–नीच, पंथ–पार्टी के अन्तर्विरोध उसे हवा देते हैं और 'सर्वाइवल ऑफ दि फिटेस्ट' के पक्षधर युद्ध भड़काते हैं। महाभारत युद्ध भारत ने झेला। उस समय की विनाश लीला देखकर पराजित तो क्या विजयी भी प्रसन्न नहीं हुए। स्वयं हमने दो विश्वयुद्ध देखी। दूसरे विश्वयुद्ध में दो करोड़ आदमी मारे गये, दो करोड़ से अधिक घायल, अपंग, या विस्थापित हुए। विजयी व पराजित राष्ट्रों का धन संहार की जगह सृजन में लगता तो विकसित देशों का हर नागरिक 12 हजार डालर की कीमत का मकान, 4 हज़ार डालर की कीमत का सामान और 20 हजार डालर का अनुदान पा सकता था। इसके अलावा दो लाख से अधिक आबादी वाले हर नगर को पुस्तकालय, पाठशाला और अस्पताल के लिए भी 25–25 करोड़ डालर मिल जाते।[137] लेकिन हिंसोन्मादी नहीं चेते। वे 80 बच्चों के प्रशिक्षण के मूल्य पर एक हथियार बंद सैनिक प्रशिक्षित करते हैं, और एक–एक प्रक्षेपास्त्र के लिए तमाम लोगों की साढ़े तीन वर्ष की खुराक, शिक्षा, चिकित्सा तथा आवासीय सुविधा कुर्बान करते हैं। यह मानव त्रासदी है।
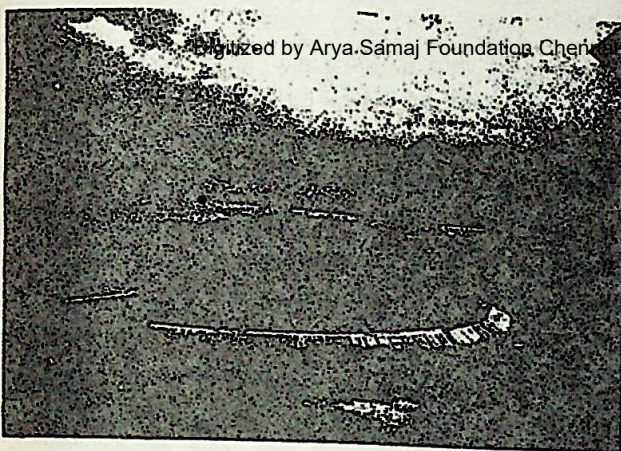
पारंपरिक ऊर्जा

जिस समाज का वकील मुकदमेंबाजी पर जिये, डॉक्टर रोगियों पर पले, सरकार आधुनिकतम कतलखाने खोलने पर तुले, वहाँ क्या होगा? भारत सरकार ने 7वीं पंचवर्षीय योजनावधि में करीब एक लाख टन माँस और एक करोड़ रुपये का चमड़ा निर्यात किया। 8वीं पंचवर्षीय योजना में 500 करोड़ रुपये का माँस निर्यात करने का लक्ष्य है। उसकी पूर्ति हेतु हैदराबाद में प्रतिवर्ष साढ़े सात लाख पशु मारने की क्षमता वाला अलकबीर कतलखाना खुल रहा है, जिसके विरोध में जैनाचार्यों के साथ जीवदया प्रेमी भी सड़कों पर आ गये हैं। आचार्य विनोबा ने बम्बई स्थित देवनार कतलखाने पर गोवंश हत्या बंदी सत्याग्रह करने का निर्देश दिया था। उसके तहत 11 जनवरी 1982 से अब तक सत्याग्रह जारी है। सत्याग्रहियों की माँग है कि गाय–बैलों की कतल पर कानूनी रोक हो और माँस का निर्यात बंद किया जाय। सांसद न्यायमूर्ति गुमानमल लोढ़ा ने 17 अगस्त, 1990 को संसद में कहा था कि अरब, सीरिया, मिस्र, त्रिपाली, एशियायी, तुर्की के मुसलमान गोवध नहीं करते और अफगानिस्तान में भी गोवध प्रतिबंधित है, तब हमारे भारत में प्रतिदिन 29500 गाय–बैल कटना भारी चिन्ता का विषय है। विकसित देशों के पास प्रति 100 मनुष्यों के पीछे 286 पशु हैं, वहाँ भारत में 38 ही हैं। उनमें गायें तो मात्र 9 ही हैं। उनके रक्षण पर पर्याप्त ध्यान न दिये जाने पर भी पशुधन कितना उपयोगी है, यह केन्द्रीय कृषि मंत्री बलराम जाखड़ ने 5 मार्च 1994 को पशु ऊर्जा सम्मेलन में बताया था कि हमें 7 करोड़ 40 लाख बैलों और 80 लाख भैंसो से प्रतिवर्ष 10 हजार करोड़ हार्स पावर ऊर्जा प्राप्त होती है, जिसका विकल्प मशीन नहीं हो सकती। इस समय देश में 19 करोड़ मवेशी, 7. 4 करोड़ भैंसे, 10.7 करोड़ बकरियाँ आँकी जाती हैं। गैर पारम्परिक ऊर्जा मंत्रालय के प्रवक्ता के अनुसार हमारे संसाधन व उपकरण पुराने होने से उनकी ऊर्जा का यथेष्ट उपयोग नहीं होता, तब भी उनसे लगभग 60 लाख टन पेट्रोलियम पदार्थ की बचत होती है। वे 60 अरब रुपये का दूध, 50 अरब रुपये का परिवहन, 30 अरब रुपये का जैविक खाद और 20 करोड़ रुपये की गैस सुलभ करते हैं। उनके रक्षण, पोषण, संर्वधन की उपयुक्त व्यवस्था न होने से जीवन, जीविका की हानि तो होगी ही, जागतिक संकट भी बढ़ेगा। जीवद्रोह के मूल्य पर खड़ी अर्थव्यवस्था भारतीय सम्पदा के साथ संस्कृति

का भी विनाश करने वाली है।

उदारीकरण और खुले बाजार की नीति पर अमल करने वाली भारत सरकार विश्वहित के परिप्रेक्ष्य में सोचे, तब भी पशुसंरक्षण आवश्यक है। पृथ्वी पर जितनी जमीन है, उसका 10 प्रतिशत हिमाच्छादित है। 15.5 प्रतिशत रेगिस्तान या पत्थरीय है। 7.4 प्रतिशत दलदली है। 2 प्रतिशत शहर, खदान, कारखाना, सड़क ने घेर रखा है। करीब 3 प्रतिशत अनुपजाऊ है। कृषि योग्य 11 प्रतिशत भी नहीं है, जब कि खाने वाले 5 अरब से ज्यादा हैं। प्रति व्यक्ति आधा हेक्टेयर भूमि से शाकाहारी का गुजारा हो सकता है, मांसाहारी का नहीं। मांसाहारी अपने द्वारा खाये जाने वाले पशु के लिए भी चारागाह चाहता है। इसलिए जैसे–जैसे जनसंख्या बढ़ रही है, मांसाहार के अवसर घट रहे हैं। मांसाहारी अपनी भूमि का दबाव कम करने के लिए भारत से मांस का आयात करते हैं और विदेशी मुद्रा के लालच में भारत निर्यात करता है, जो कौड़ी के बदले करोड़ों खोने जैसा व्यापार है।

जीवदया प्रेमियों की सजगता

वाराणसी भारत की सांस्कृतिक नगरी है। यहाँ के जीव दया प्रेमी व्यापारियों ने कतलखानों के व्यापार को रोकने में दिलचस्पी ली। पशु व्यापारियों और कसाइयों के पंजे से छुड़ाया गया, गोधन संरक्षित किया। नवम्बर 1986 से 1993 के बीच लगभग 50 हजार गाय–बैल जीवन दान पाये। इस समयावधि में उनके गोबर–गोमूत्र से 30–30 फीट गहरे गड्ढे व कंकर–पत्थरों के ढेर पाटे। 9 से 11 प्रतिशत क्षारीय ऊसर सुधरा। लगभग 100 बीघा भूमि तैयार हुई, जिसमें 67 हजार 540 क्विंटल हरा चारा हुआ। वृक्षावली लगी। पर्यावरण सुधरा। वर्ष में तीन फसलें ली जाने लगीं। फल–फूलोत्पादन बढ़ा। बैल जुताई–ढुलाई में लगे। प्रति गाय के गोबर से एक लीटर मिट्टी के तेल के बराबर गैस मिलती है। गोबर गैस से ईंधन और स्लरी खाद की आपूर्ति होती है। संतुलित दाना–पानी व समुचित चिकित्सा से जो गायें स्वस्थ हो गयीं, उनकी नस्ल पर ध्यान दिया गया। दूसरी–तीसरी ब्यांत में दूध देने की क्षमता बढ़ गयी। उनसे 8 लाख 84 हजार 473 लीटर दूध मिला। मरणोपरांत काम आये अवयव भी उद्योग बढ़ाने में सहायक
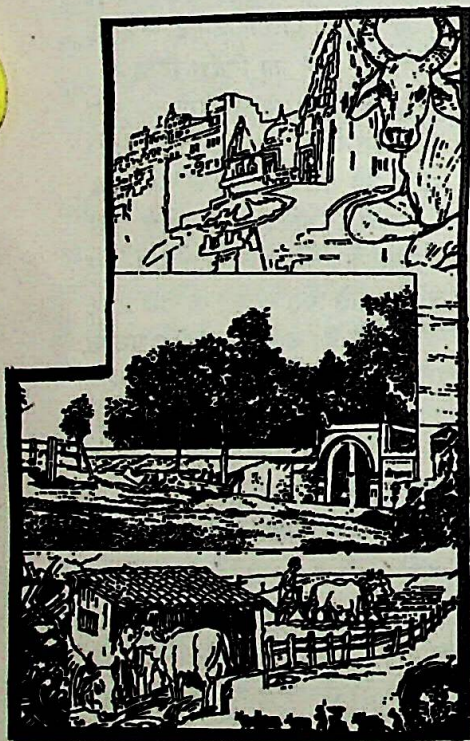
गो संरक्षण केन्द्र, वाराणसी

हुए। सात वर्षों में लगभग 7 लाख श्रम दिवस सृजित हुए और कत्ल से बचे गोवंश का राष्ट्र–निर्माण में योग मिला।

देश की 2800 गोशालाएँ कृषि–गोपालन–ग्रामोद्योग से जुड़कर केवल गोबर–गोमूत्र का पूरा उपयोग करने लग जायें तो देश की आधी आबादी की जरूरत भर गैस, ढाई करोड़ नाईट्रोजन, फास्फेट युक्त खाद और कीटनाशक दवाओं का विकल्प मिल सकता है। उसके अलावा 12 करोड़ 95 लाख 80 हजार हेक्टेयर बंजर सुधर सकता है तथा गरीबी की रेखा से नीचे रह रहे एक करोड़ ग्यारह लाख परिवार भी लाभान्वित हो सकते हैं।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्र ने देश की भुखमरी, गरीबी, बेकारी जैसे प्राथमिक प्रश्न गाय के सवाल से अलग करके यंत्रों के सहारे निपटाने वालों को आगाह करते हुए लिखा है कि यांत्रिक प्रगति से देश आगे अवश्य बढ़ रहा है, लेकिन यांत्रिक भीमोद्योगों से उत्पन्न सम्पन्नता आर्थिक विषमता उत्पन्न करती है। गाय प्रतीक है, उस वैकल्पिक सभ्यता का जो हार्दिक है, स्निग्ध है, उपकारी है, उपयोगी है और उसकी रक्षा का अर्थ सामान्य जीव रक्षा नहीं, जीवन रक्षा है, जगत् रक्षा है। विचारक बारम्बार यह बात कह रहे हैं कि गाय बचेगी तो मनुष्य बचेगा। वह नष्ट हो गयी तो उसके साथ हम सभी यानी हमारी सभ्यता और अहिंसा प्रधान संस्कृति भी नष्ट हो जायेगी।

हिंसायुक्त समाज-रचना का अन्तर्विरोध

अहिंसक समाज रचना चाहने वाले जैन श्रमणों ने गाय, घोड़ा आदि पशुओं का रक्षण करने तथा उनके बारे में गलत जानकारी देने का निषेध किया। भूमि के क्रय–विक्रय के सम्बन्ध में झूठ बोलने, झूठी गवाही देने, गिरवी या धरोहर रखी वस्तुओं के मामले में असत्य बोलने का विरोध किया। वैवाहिक सम्बन्धों के समय सच–सच जानकारी देने की राय दी। कम तोलने, मिलावट करने का त्याग कराया।[138] इस तरह एक–एक बात का विचार करने से जीवन कितना बदल जाता है, इसका अध्ययन 1891 में दीवान बहादुर ए.बी. लठे ने किया और जेल एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट के आधार से बताया कि जब प्रत्येक 477 ईसाइयों में 1, प्रत्येक 481 यहूदियों में 1, प्रत्येक 604 मुसलमानों में 1, प्रत्येक 1509 हिन्दूओं में 1 और प्रत्येक 2549 पारसियों में 1 व्यक्ति जैसी सजा काट रहा था, तब प्रत्येक 6165 जैनों में 1 व्यक्ति को वैसी सजा मिली। इस सदी के आरम्भ में यह अनुपात और कम हो गया। 1901 में 7355 जैनों के पीछे केवल एक व्यक्ति ही दंडित अपराधी पाया गया। प्रशासन, अदालत, व्यापार, व्यवसाय में जैन अपनी सच्चाई, ईमानदारी, साख के लिए अन्य समस्त समाजों की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हैं।[139] जीवन विशुद्धि के लिए अभी बहुत कुछ करना है। इसलिए अब यह गम्भीरता से सोचने की जरूरत है कि क्या ऐसे हिंसामुक्त समाज की वर्तमान व्यवस्था में वकील मुकदमेबाजी पर जी सकते हैं? डॉक्टर रोगियों पर पल सकते हैं? ब्याज, दलाली, ठेका, किरायेदारी, सट्टा, लाटरी चलाने वाले व्यापारी कहला सकते हैं ? सामाजिक अन्तर्विरोधों को घटाना है, तो ये प्रश्न नजरंदाज नहीं किये जा सकते। जीव दया के मामले में भावात्मक की तरह व्यावहारिक बनने की भी जरूरत है।

व्यावहारिक ढंग से सोचने के कारण ही गाँधीजी ने कहा था कि हमारी राजनीति अवकाश के समय का एक साधन है अथवा जीवन की सफलता को आगे बढ़ाने की सीढ़ी के तौर पर उसका उपयोग किया जाता है, लेकिन हमें राजनीति में उदारता, गाम्भीर्य और निःस्वार्थता चाहिए। इसके लिए उन्होंने परम्परा से हटकर सोचा। राजा–महाराजाओं को लुटेरों की संज्ञा दी और 23 जून, 1918 को यहाँ तक कहा कि "मुझे तो जितने राजा हैं, उतने लुटेरे मालूम होते हैं। उन्हें एक खास उद्देश्य पूरा करना था। इसके लिए उन्होंने पराक्रम किये। हमारी जनता ने सभी राजाओं को संतुष्ट रखने की कोशिश की है। पशुओं को नैवेद्य चढ़ाया और साँपों की पूजा की। सब कुछ स्वार्थ साधने के लिए किया। परार्थ और परमार्थ की प्रेरणा होती तो क्या तुलसीदास जैसे संत अपने भजन में राम की शत्रु का विनाश करने वाली शक्ति–संपन्नता का गुणगान करते? मुस्लिम काल में हिन्दू लड़ने के लिए मुसलमानों से कम तत्पर न थे। इतना ही है कि वे संगठित नहीं थे। शरीर से भी कुछ दुबले और आपसी झगड़ों से छिन्न–भिन्न हो गये थे। भूतमात्र के प्रति दया के सिद्धान्त रूप में बौद्ध धर्म भी पूरी तरह असफल सिद्ध हुआ। अगर दंत कथाएँ सच हों तो महान् शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म को हिन्दुस्तान से निकाल बाहर करने के लिए अवर्णनीय निर्दयता से काम लेने में संकोच नहीं किया। जैनों में खून को देखकर डरने का जबरदस्त वहम है। परन्तु दुश्मन के विनाश से इस पृथ्वी पर और किसी को जितना आनन्द हो सकता है, उतना जैनों को भी होगा। ब्रिटिश काल में जनता का जबरन निःशस्त्रीकरण हो गया, परन्तु दिल से मारने की इच्छा जरा भी नहीं गयी।"[140] यही इच्छा बदलने हेतु चित्त, चिन्तन, चरित्र बदलने पर गाँधी का जोर रहा। नजरें ही नहीं नजारा बदलने वाली इस सांस्कृतिक क्रान्ति को समझने की अभी भूमिका ही बन रही है। क्या इतिहास का जीव दया तथा परस्पर सहयोग परक अध्ययन अपेक्षित नहीं है?

शोषण या पोषण ?

जैन साध्वी उज्ज्वल कुमारीजी जैसी श्रमणियाँ बुनियादी चिन्तकों में अग्रणी रही हैं। उन्होंने सारे देश में घूम–घूमकर जीव दया प्रेमियों को प्रतिबोधित किया है। वे सहज ढंग से समझाती हैं कि यदि किसी दयालु को कोई एक चींटी मारने का पाँच लाख रुपये दे, तो क्या वह यह काम करेगा? नहीं, परन्तु वही दयालु यदि मौज–शौक के लिए या सस्ता मिलने से गृहोद्योग की चीजें, त्यागकर यंत्रोत्पादित वस्तुएँ उपयोग में ले तो उसे कैसे दयाधर्मी कहा जा सकता है? गाँव में कसाईखाना शुरू हो तो आप उसका विरोध करेंगे, किन्तु वहीं मिल खड़ी हो तो क्या उसके खिलाफ नहीं बोलेंगे? सोचें ! **गृहोद्योग** घर को सुखी बनाता है और **यंत्रोद्योग** सुख को बरबाद करता है। गृहोद्योग में लगाया पैसा घी–दूध में परिवर्तित होता है और मिल में लगाया पैसा तलवार, बंदूक

और बम में परिणत हो जाता है। उदाहरण के तौर पर मिल का कपड़ा और खादी—वस्त्र ही लें। मिल के कपड़े में एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक हिंसा है। कपड़े को मुलायम और चमकीला बनाने के लिए उस पर पशुओं की चरबी लगाते हैं। रासायनिक पदार्थ घोलते हैं और जल का अनावंश्यक दुरुपयोग करते हैं, नदी—नालों को प्रदूषित करते हैं। इसके सिवा मिलों के कारण घर—घर में चरखा चलाने वाले हाथ बेकार हो जाते हैं और उनकी आजीविका का सहारा छूट जाता है। जैसे—जैसे यंत्रों से अधिक काम लिया जाता है, उत्पादन बढ़ता है, वैसे—वैसे उसे खपाने के लिए बाजारों पर कब्ज़ा करने की होड़ और फिर परोक्ष या प्रत्यक्ष युद्ध भी करते है। यंत्र या यंत्रोत्पादित वस्तु का उपयोग करने वाला हर एक मनुष्य युद्ध की मानव—हिंसा का भागीदार होता है। गृहोद्योगी वस्तुएँ प्राप्त करने में कठिनाई हो तो उसे धर्मयात्रा का अंग मानकर सहना चाहिए और वे महंगी मिलें तो उसे पड़ोसी की मदद में दिया जाने वाला प्रच्छन्न दान मान लेना चाहिए।'[4] इसी तरह जीवन के सारे व्यापार—व्यवहारों के बारे में सोचना चाहिए कि उनसे शोषण का वर्तुल बढ़ता है या पोषण का? जीवन, जीविका व जगत् की परस्पर पूरकता बढ़ाने वाली इस दृष्टि की वकालत आचार्य जवाहरलालजी, उपाध्याय कवि अमर मुनि आदि अनेक श्रमणों ने की, लेकिन उनके उपासक पूरी तरह उस विचार को हृदयंगम नहीं कर पाये। व्यक्ति बदलता है, पर समाज के न बदलने से देश के सम्मुख चारित्रिक संकट पैदा होता है और वही आज है। 'संकट मोचन नाम तिहारो चाहो तो पार उतारो' की प्रार्थना से संकट—मुक्ति नहीं होगी। उसके लिए तो स्वयं संकट मोचक बनना होगा।

चर्चा ही नहीं अर्चा

संकट को हम ही न्योताते हैं और हम ही उससे युक्त भी होते हैं। मुक्त होने का उपाय है— साधारण काम को असाधारण रूप में करने की तत्परता, जिससे व्यष्टि एवं समष्टि के हितों में सामंजस्य स्थापित हो। जीवन के हर क्षेत्र में यही दृष्टि अपेक्षित है। इसके लिए हमें हर व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताएं पूरी करनी होंगी। सबको समझाना होगा कि आपकी आवश्यकता पूरी होने से ही समाज की, देश की, दुनिया की, आवश्यकता पूरी होगी। लेकिन उन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए उत्पादन का मार्ग छोड़कर सार्वजनिक सम्पत्ति को नष्ट न करें। आखिर वह सम्पत्ति भी तो हमारे व आप ही के श्रम और साधनों की देन है।

अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए हड़ताल, घेराबन्दी आदि का सहारा लेने से क्या होगा? उत्पादन रुकने से होने वाली हानि का असर किस पर नहीं पड़ेगा?

गाड़ी की पटरी उखाड़ने, मशीनों में तोड़—फोड़ करने या मार—पीट से हो सकता है आपके परिवार के लोग भी उसके शिकार हो जायं। कल आप ही शासक हो गये तो क्या होगा, कैसे व्यवस्था संचालित होगी?

इसलिए जरूरी है कि निर्माण को गति देने वाली सार्वजनिक आचार संहिता का सम्मान किया जाय, जिससे संघर्ष सहयोग में बदले और नागरिकों को आवश्यकताओं का विवेक हो। लोग नियत काम करें। कामचोरी से बचें।

न भूलें कि हमारा विवेकपूर्ण स्वार्थ ही परमार्थ है।

हम शुद्ध खाद्य चाहते हैं, शुद्ध पेय चाहते हैं, शुद्ध सामान चाहते हैं, लेकिन अपनी दूकानों में मिलावटी चीजें बेचेंगे तो हमारे परिवारवालों को शुद्ध पदार्थ कहाँ मिलेंगे?

हम सात्विकता पसन्द करते हैं, अपने घर में बहू–बेटियों की इज्जत करते हैं, खाने–पीने में संयम रखते हैं लेकिन अपने कारखाने में तामसिक पदार्थ तैयार करते हैं, अश्लीलतासूचक एवं कामोत्तेजक सामान बनाते हैं और अखाद्य माल रखते हैं, तब बताइये कितने दिन हम या हमारा परिवार अपने आपको सुरक्षित रख पायेगा?

याद रखें– हम जैसा चाहते हैं, वैसा उद्योग करें। धन–धर्म की रक्षा का यही उपाय है।

अनाज का अपव्यय मत कीजिये। अपव्यय करने से न केवल अन्न की बरबादी होती है, अपितु ऐसी स्थिति आ सकती है कि किसी समय जब हमें कड़कड़ाती भूख लगे, तभी भंडार खाली हो जायँ और हम भूखों मर जायँ।

मिलावट मत कीजिये। मिलावट करने से न केवल शुद्ध वस्तुओं का अभाव होता है, अपितु आप भी शुद्ध पदार्थ पाने से वंचित हो जाते हैं।

पानी का अपव्यय मत कीजिये। कंपड़े का अपव्यय मत कीजिये। दवा का अपव्यय मत कीजिये। छोटी से छोटी किसी भी चीज का अपव्यय मत कीजिये। इनका अपव्यय होने से दूसरों को अभाव हो सकता है, इतना ही नहीं, बल्कि किसी दिन हम स्वयं भी भारी अभाव में पड़ सकते हैं। क्योंकि हम सब एक दूसरे पर आश्रित हैं।

भोगवादी वृत्ति

हम नहीं चाहते कि आप धर्म को धर्म के लिए या बाह्य क्रिया काण्डों के लिए स्वीकार करें, बल्कि इसे आचार–विचार की एकरूपता का सेतु बनायें ताकि हवा, पानी, सौर शक्ति आदि का पूरा–पूरा उपयोग हो।

उपयोगिता का भी सैनिकी–करण होता जा रहा है।

इसका नतीजा यह हुआ है कि सैनिक और सामान्य नागरिक के जीवन मूल्य में अन्तर आ गया है। छः नागरिक जीवन निर्वाह के लिए जितना पाते हैं, उतना एक–एक सैनिक हजम करता जा रहा है।

आध्यात्मिक वृत्ति

सेना और सैनिक साजो–सामान से सम्बद्ध योजनाओं में दुनिया के करीब 5 करोड़ लोग लगे हैं। जो अनुपात में डेढ़ प्रतिशत होते हुए भी विश्व के कुल उत्पादन का छः प्रतिशत पचा जाते हैं।

सामुदायिक जीवन की सुरक्षा के नाम पर आधुनिक प्रोद्यौगिकी एवं हर नई उपलब्धि हथियाने की होड़ से विश्व बारूदी सुरंग पर जा बैठा है। सैनिक खर्च उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। मौत के सौदागर मालामाल हो रहे हैं और आम आदमी कंगाल हो रहा है। एशियन स्ट्रटेजिक रिव्यू के सर्वे के अनुसार 1993 में सेना पर भारत ने 6 अरब 90 करोड़ डालर खर्च किया, जबकि सैनिकों से सैंकडों गुनी आबादी गरीबी की रेखा से नीचे जीने को विवश है। जीवित रहने के लिए जन–सामान्य को 14 औंस अनाज, 3 औंस दाल, 10 औंस सब्जी, 3 औंस घी तेल, 4 औंस फल, 20 औंस गुड़–चीनी और 10 औंस घी भी नसीब नहीं होगा तो सभ्यता व संस्कृति की उपयोगिता क्या रहेगी? राज्य व्यवस्था के नाम से संगठित हिंसा और समाज व्यवस्था के नाम पर हो रहा बहुआयामी शोषण उसे कितने दिन दबाये रख सकेगा? अल्पसंख्यकों ने सत्याग्रह के जरिये कुछ प्राप्त किया और बहुसंख्यकों ने **असहयोग** के द्वारा कुछ लिया, फिर भी सर्वसमावेशकता की प्रक्रिया हाथ नहीं लगी। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'जय जगत्' की चर्चा करने वालों के लिए यह सीधी चुनौती है, जो अर्चा करने वाले ही स्वीकार कर सकते हैं।

विश्व मैत्री युग आरम्भ

गाँधीजी ने जागतिक प्रश्नों पर चिन्तन किया हमें सावधान कर दिया था कि आततायी का उत्तर आततायीपन से, विकृति का उत्तर विकृत मन से देने वाला युग समाप्त हुआ। उस युग में परस्पर अविश्वास और लादी हुई हुकूमत चली, लेकिन अब आपसी विश्वास प्रदर्शित कर नये युग का श्रीगणेश करना है। हम स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिक हैं। हमारे लिये राष्ट्रधर्म का अर्थ है— व्यापक प्रेम। यह विश्वप्रेम नहीं है, परन्तु उसका एक बड़ा अंश है। वह प्रेम का धवलगिरी नहीं, परन्तु प्रेम का दार्जिलिंग है। वहाँ से धवलगिरी

के सुवर्ण दर्शन होते हैं और देखने वाला मन में सोचता है कि यदि प्रेम का दार्जिलिंग इतना सुन्दर है तो इस प्रेम का धवलगिरी कितना सुन्दर होगा। राष्ट्र प्रेम उसका विरोधी नहीं, उसका नमूना है। वह अन्त में मनुष्य को विश्व–प्रेम की चोटी पर ले जाता है।[142]

राष्ट्रधर्म का अधिष्ठान

प्रेम, करुणा, सेवा, मैत्री ने संस्कृति को सँवारा और विकृति का कारण क्रोध, मान, माया, लोभ बताया। क्रोध प्रेम का नाश करता है। मान विनय का नाश करता है। माया मित्रता का नाश करती है। लोभ सारे सद्‌गुणों का नाश करता है। शान्ति से क्रोध पर विजय पाई जा सकती है। नम्रता से मान पर विजय पाई जा सकती है। सरलता से माया पर विजय पाई जा सकती है। संतोष से लोभ पर विजय पाई जा सकती है।[143] महावीर का यह स्वयं आचरित उपदेश है। इस उपदेश के अनुसार चले, वे जब कभी किसी कारण से एक भी विकारवश होते तो तब तक अन्न–जल ग्रहण नहीं करते थे, जब तक कि विकार रहता था।[144] व्यष्टि के ही नहीं, समष्टि के भी क्रोध, मान, माया, लोभ को नियंत्रित कर सामुदायिक जीवन को यशस्वी बनाने का यही उपाय है। विद्यार्थियों की परीक्षा होती है, वैसे ही हमारे जीवन व्यवहार की भी परीक्षा होनी चाहिए। जो कम से कम एक वर्ष में कषाय मुक्त हो जाय, उसे नागरिकता का अधिकार दिया जाना चाहिए। जो चार माह में मुक्त हों, वे सार्वजनिक सेवा के योग्य माने जायँ। जिन्हें एक माह में कषाय नियंत्रण करना आ जाय, उन्हें प्रदेश तथा एक पक्ष में नियंत्रण करना आ जाय, उन्हें देश का नेतृत्व सौंपा जा सकता हैं। प्रतिदिन कषायमुक्त रह सकें, वे विदेश सेवा के अधिकारी माने जा सकते हैं।

अध्यात्म को धरती पर उतारें

जैन विचारानुसार श्रमण–श्रमणी, श्रावक, श्राविका की यह आचार कसौटी है। इस आचार से समाज को लाभ देने/दिलाने हेतु समर्पित व्यक्ति साधु कहलाता है। तदनुरूप शिक्षा देता है, वह उपाध्याय है। निर्धारित आचार संहितानुसार समाज को अनुशासन दे, उसे आचार्य कहते हैं। युगानुरूप जीवन दिशा निर्धारित करने वाला अर्हत् और सफलता की मंजिल तक पहुँच जाय, वह सिद्ध होता है। पंच परमेष्ठी मानकर
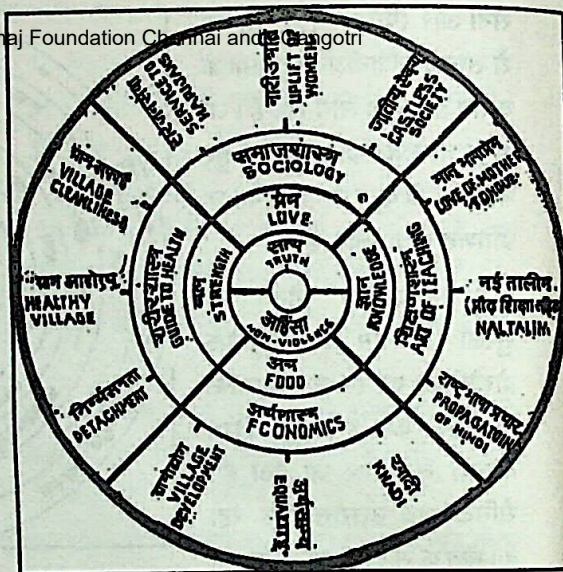
अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु की वंदना की जाती है।[145] वे अन्तर्जगत् के साथ

बहिर्जगत् को रोशन रखें, तभी अध्यात्म धरती पर उतरेगा और निमाण से निर्वाण तक का राज मार्ग प्रशस्त होगा। 'वर्ल्ड पार्लियामेंट ऑफ रिलिजन्स' ओहावा (कनाडा) में जैनाचार्य सुशील कुमारजी ने कहा भी था कि 'यहाँ वैज्ञानिक पद्धतियाँ, तकनीकी ज्ञान तथा भौतिक कामनाओं ने बहुत प्रगति की है, लेकिन विज्ञान का धर्म के साथ समन्वय हुए बिना मनुष्य राक्षस बनकर एक–दूसरे से लड़ने–भिड़ने लगेगा। अतः हम विभिन्न धर्मों में समन्वय और सद्भाव पैदा करें और धर्म स्थानों को प्रयोगशालाएँ तथा प्रयोगशालाओं को धर्मस्थल बना दें। विश्व में शान्ति–सद्भाव लाने के लिए राजनैतिक समझौते हुए, उनसे शान्ति नहीं हुई। अब समय आ गया है कि धर्माचार्य विश्व–शान्ति के लिए सेवा दें।

पिछले 4 दशकों से आचार्य सुशील कुमारजी धार्मिक और राजनैतिक दुर्बलताओं को दूर करने की दृष्टि से चर्चित रहे हैं। 22 अप्रैल, 1994 को अन्तिम विदाई लेने तक वे यह बात कहते ही रहे कि आज जिस प्रकार धर्म पर संप्रदायों के बड़े–बड़े आचार्यों का प्रभुत्व छाया हुआ है, इसी प्रकार विज्ञान पर अपने–अपने स्वार्थों के लिए लड़नेवाले राजनीतिज्ञों का शासन है। वे वैज्ञानिकों से संहार के साधन बनवाते हैं। अतः मदोन्मत्त राजनीतिज्ञों को सद्बुद्धि प्रदान करने के लिए धर्म आगे आये। लेकिन वह तब तक आगे नहीं आ सकता, जब तक कि वह स्वयं धर्माचार्यों के मकड़जाल में उलझा है। अब विश्व विध्वंस की सम्भावना देखकर भी धर्माचार्य यदि नहीं समझेंगे तो वे सर्वदा के लिए अप्रासंगिक हो जायेंगे।
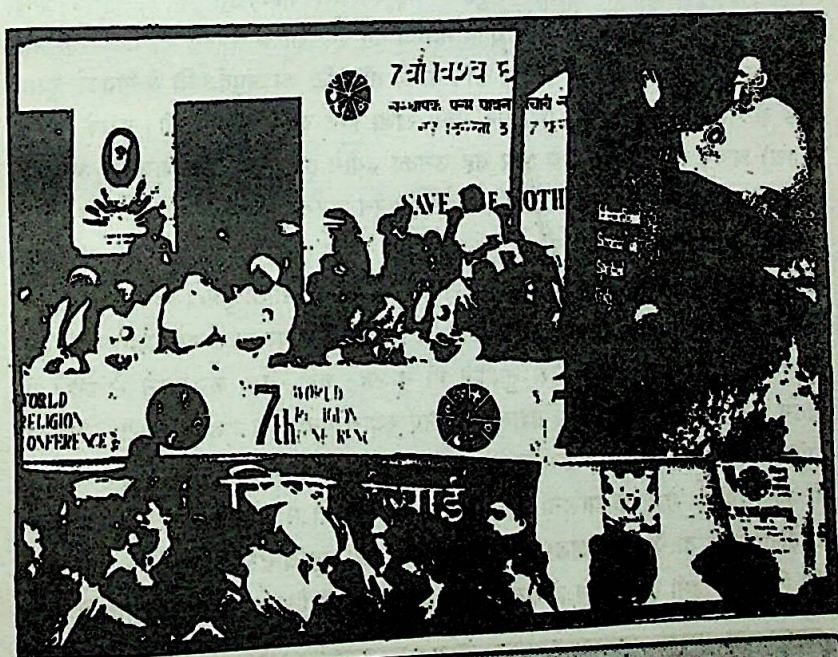
साहित्य, कला, संस्कृति, सेवा, शाकाहार, व्यसन–मुक्ति, गोसेवा, पर्यावरण रक्षा, ध्यान, योग, तप आदि के क्षेत्र में जैनों और जैनाचार्यों की सेवाएं सर्वविदित है। वर्तमान विज्ञान और तकनीकी विद्या के इस युग में ऐसे अनेक विध क्षेत्रों में सभी धर्मों के मान्य संतों और राजनेताओं के सहयोग से, यहाँ तक कि यूनेस्को एवं संयुक्त राष्ट्र को भागीदार बनाते हुए आचार्य सुशीलकुमार जी ने महावीर की परम्परा को युगानुरूप भाव सामग्री दी। इसे अध्यात्म की धरती पर उतारने की उत्कटता कहा जाय या विश्व शान्ति के क्षेत्र में जैनों का योगदान?

विकसित जीवन शैली का तकाजा

माँ की ममता, पिता का वात्सल्य, गुरु की कृपा, मित्रों का स्नेह और पड़ोसी की परस्पर पूरकता से विश्व–मैत्री की भूमिका बनती है, लेकिन विश्व अशांति का इलाज नहीं होता, जिसके लिए तीर्थंकरों को महाभिनिष्क्रमण करना पड़ा था। अब वैज्ञानिक युग में उस तरह महाभिनिष्क्रमण न करें, पर वह जीवन–शैली तो अपना ही सकते हैं, जिससे अपने लिए कम से कम ऊर्जा का उपयोग करते हुए पर्यावरण, पशु–पक्षी, प्रकृति व प्राणी जगत् के प्रति संवेदनशील रहें। संवेदना के कारण ही मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार (अर्ध विकसित मनुष्य) के बाद पूर्णावतार का स्वरूप सामने आया। धार्मिक मान्यताओं के समानान्तर समाज विकास की अवधारणाएँ भी लगभग इसी तथ्य को पुष्ट करने में सहायक रही हैं। समाज वैज्ञानिक मानते हैं कि सृष्टि की कहानी एककोशीय जीव से आरम्भ हुई है। वह उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। मानव–कथा उस दिन आरम्भ हुई, जिस दिन, कपि मानवों की एक शाखा भोजन की तलाश में पेड़ों से उतर कर धरती पर रहने लगी। कपि मानव की बुद्धि का अपूर्व गति से विकास हुआ। पेड़ से उतर कर इसने दो पैरों पर सीधा खड़ा होने की आदत डाली। इसके दो पैर (हाथ) चलने के काम से बचे और वह उनका प्रयोग आत्मरक्षा और शत्रु पर आक्रमण करने के लिए करने लगा। उसने हाथ से भोजन करना आरम्भ किया, जिससे मुँह से भोजन उठाना बंद हुआ और जो मुँह आगे को उभरा हुआ था, वह धँसने लगा। सीधा खड़ा होकर चलने से जाँघ की हड्डियाँ सीधी हुई। मेरुदंड सीधा हुआ। आग के आविष्कार के बाद जब वह पका भोजन खाने लगा तो इसके दाँतों पर जोर कम पड़ने लगा और दाँत छोटे हो गये। पहले जैसे नुकीले भी न रहे। चबा–चबा कर खाने से जीभ का काम बढ़ा, जिससे जीभ की पेशियों के लिए स्थान बना और ठुड्डी उभरी। जीभ की पेशियों में परिवर्तन होने से उसका नाद तंत्र भी विकसित हुआ और मानव–भाषा अस्तित्व में आ गयी।[46] पेड़ों के पालनों और पहाड़ों की गुफाओं में रहने वाले इस दुर्बल मनुष्य के लिए जहाँ दो पैरों पर खड़ा होना कठिन था, वहाँ वह चन्द्रलोक की यात्रा कर आया है। फिर भी अभी तक प्रश्न लगातार पूछा जाता रहा है कि हम कैसे रहें? किसी समय

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से[147] और गौतम ने महावीर से पूछा था कि हम कैसे चलें, कैसे उठें, कैसे बैठें, कैसे सोयें और कैसे रहें कि पाप से बचा जा सके। विवेकयुक्त व्यवहार करो[148]– महावीर ने उत्तर दिया था कि अविवेक से आत्मक्लेश बढ़ता है, सह–जीवन संकट में पड़ता है एवं सामाजिकता खण्डित होती है। विवेक से पाप बंध के हेतु भी मुक्ति के हेतु बन जाते हैं।[149] मोक्ष क्या कोई पारलौकिक ही है? वर्तमान जीवन में जितनी शान्ति, जितना आनन्द और जितना चैतन्य स्फुरित होता है, वह सब मोक्ष है। इन्द्रिय और मन का वशीकरण ही मोक्ष मार्ग है।[150] जिन्होंने अहंकार और वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली, मन, वाणी और शरीर के विकारों को धो डाला, जिनकी आशा निवृत्त हो चुकी, उन सुविहित आत्माओं के लिए यहीं मोक्ष है।[151]

स्वतंत्रता–संग्राम के दौरान गांधीजी ने कहा भी था कि पशु के धर्म करता हुआ तो मनुष्य जनमता ही है। ज्यों–ज्यों समझदारी बढ़ती है, त्यों–त्यों उसमें मनुष्यत्व आता है। तब हम पशुबल का आश्रय छोड़कर आत्मबल पर आधार रखना सीखते हैं। परन्तु कोई हमारे विरुद्ध पशुबल इस्तेमाल करने आये, उसके विरुद्ध आत्मबल से खड़ा रहना तो दूर रहा, उसे देखते ही भाग जायँ, तब तो न हम पशु रहे न मनुष्य ही। लाठी के सामने तलवार उठाने से हम नामर्द बन गये हैं। नामर्द बनने से अच्छा है कि वीरों की तरह हिंसकों के सामने हम खड़े रह कर मारे जायँ।[152] 'मार सके मारे नहीं ताको नाम मरद।' ऐसी मर्दानगी हम में नहीं है। यह बात जितनी अपमानजनक है, उतनी हीं आश्चर्यजनक भी कि एक लाख से भी कम अंग्रेज करोड़ों भारतीयों पर शासन कर रहे हैं। यह काम वे हजारों हजार तरह से हमारा सहयोग प्राप्त करके करते हैं। यदि हम उन्हें जन–धन जुटाने से इन्कार कर दें तो उसका मतलब होगा स्वराज्य, समानता और पुंसत्व प्राप्त करना।

मार सके मारे नहीं, ताको नाम मरद

गाँधी ने जोर देकर कहा कि आतंक और छल बलवान के नहीं, कमजोर के अस्त्र हैं। ऐसा प्रायः देखा गया है कि भारत में रहने के बाद अंग्रेज चरित्र से कमजोर हो जाते हैं और भारतीय अंग्रेजों कै सम्पर्क से साहस और पौरुष खो देते हैं। इस तरह कमजोर होते जाने का सिलसिला न केवल दोनों राष्ट्रों (ब्रिटेन और भारत) के लिए बुरा है, बल्कि संसार के लिए भी अच्छा नहीं है। संसार की प्रगति में हमारा सच्चा योगदान यही होगा कि हम अपना घर दुरुस्त कर लें। अपने में अनुशासन, आत्म–त्याग, आत्म–बलिदान, संगठन–शक्ति, आत्म–विश्वास और साहस विकसित कर लें।[153] डरने–डराने, झुकने–झुकाने, दबने–दबाने की मानसिकता से मुक्त होकर महावीर ने क्या किया था? समस्त जीवों की रक्षा, दया पर ध्यान दिया।[154] इससे सर्वोदय सधा। महावीर का तीर्थ **सर्वोदय तीर्थ** कहलाया।[155] गाँधीजी **सर्वोदय समाज** चाहते थे। उसी के लिए गाँधी के बाद विनोबा ओर जयप्रकाश ने जन–आन्दोलनों से लोकतंत्र के प्रचलित

कानूनी दायरे से बाहर अहिंसक शक्ति विकसित की। आचार्य राममूर्ति जैसे विचारकों को गाँधी विनोबा जयप्रकाश के नेतृत्व में सत्ता सन्यास, त्याग की प्रेरणा, शान्ति का आग्रह तथा लोकात्मा का जागरण दिखा। सामुदायिक लोकचेतना के अभाव में आज सर्वोदय समाज एक चुनौती बनकर रह गया है, जबकि बिना सर्वोदय के समाज में सद्व्यवहार, साहित्य में सर्वभूतहित, संस्कृति में श्रेय और सृष्टि में सुसंवाद सम्भव ही नहीं है। यह सम्भव हुआ कि जैनत्व आया और जनकवि बोला—

अब न किसी का मान, जगत् अपमान कराएगा।
अब न किसी का ज्ञान जगत् उद्यान जलाएगा।
अब न क्रोध का भूत हमें यमदूत बनाएगा।
अब न युद्ध का दानव मानव रक्त बहाएगा।
जन-गण के मानस में हम नव ज्योति जगा देंगे।
नये सिरे से हम यह संसार सजा देंगे।[156]

दृष्टि और सृष्टि का मेल

संवेदनाजन्य सभ्यता को संसारव्यापी बनाने का समय आ गया है। इसे जैन धर्म की थाती मान लेने से इतिहास के अनगिनत पृष्ठ अधखुले रह गये हैं। कुछ पाँच—दस हजार वर्षों की धड़कनें सुनते रहे और कुछ हजारों—हजार साल की पहचान के परिचय—पत्र नहीं पेश कर पाये। क्या हो? वेद, आगम, त्रिपिटक, रामायण, महाभारत के अतिरिक्त टीका, चूर्णी, भाष्य, काव्य, लोक—कथा और लोक—जीवन का नये सिरे से अध्ययन हों। पिछले वर्षों में भविष्यवादी विचारक एल्विन टाफ्लर का **'तीसरी-लहर'** थर्ड वेव के नाम से एक अध्ययन सामने आया है। उसने लिखा है कि वन आधारित आरण्यक सभ्यता में कृषि क्रान्ति के कारण बुनियादी परिवर्तन हुए। कृषि सभ्यता की अपनी अर्थ—व्यवस्था, समाज—मनोविज्ञान, प्रौद्योगिकी, शिक्षा—व्यवस्था, न्याय—व्यवस्था, संचार—व्यवस्था थी। लेकिन गत तीन सौ वर्षों में औद्योगिक क्रान्ति के कारण विश्व में औद्योगिक सभ्यता छा गयी है, जिसने ग्रम—जीवन को लगभग अप्रभावी बना दिया है। दुनिया में केन्द्रीयकरण, यंत्रीकरण, शस्त्रीकरण, बाजारीकरण, वर्गीकरण हुआ। उसके परिणामस्वरूप विश्व के साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, वर्ग—संघर्ष, युद्ध, प्रदूषण आदि समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। इससे उबारने वाली अब मानवीय क्रान्ति हो रही है, जिसकी अपनी औद्योगिकी होगी, शिक्षा—व्यवस्था, न्याय—प्रणाली, संचार—प्रणाली, रहन—सहन का ढाँचा, जीवन मूल्य और नीति—व्यवहार होगा। औद्योगिक क्रान्ति भाप की ताकत से शुरू हुई और इसका पूर्ण विकास विद्युत शक्ति से हुआ। ताप विद्युत, जल विद्युत, अणु विद्युत अर्थात् विविध ऊर्जा स्रातों से प्राप्त ऊर्जा को विद्युत शक्ति में परिवर्तित कर उपयोग में लाने का सिलसिला चला है। इनकी जगह अब नये सौर—ऊर्जा, बायो—गैस

या गोबर–गैस ऊर्जा, वायु ऊर्जा, लहर ऊर्जा, भू–भौतिकी ऊर्जा आदि नये–नये ऊर्जा

स्रोत खोजे जा रहे हैं, जिनका भण्डार अक्षय है। ये प्रदूषण रहित हैं और प्राकृतिक संतुलन कायम रखने वाले हैं। इनसे गाँव बुनियादी जरूरतों में स्वावलम्बी हो सकेंगें। सौर–ऊर्जा से खाना पकाने के चूल्हे (सोलर कूकर) के साथ ही इण्टरकाम टेलीफोन, रेडियो फोन, टेलीविजन, रेडियो आदि चलने लगेंगे, तब इसका विशेष महत्व हो जायेगा।

इस पर से श्री नरेन्द्र दूबे जैसे कार्यकर्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मानवता का सर्वांगीण विकास लघु समुदायों में हुआ और अब फिर बड़े–बड़े शहरों के लोग शहरों से दूर अपने घर बना रहे हैं। सप्ताहांत में गाँवों में जाकर रहते हैं। खेती–बागवानी करते हैं। लोग लघु–समुदायों की ओर लौट रहे हैं। ये लघु समुदाय अन्न, वस्त्र, आवास, शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन जैसी मानवीय जरूरतों में स्वाश्रयी हों, परस्परावलम्बी हों, ऐसी आकांक्षा उत्पन्न हो रही है।[157]

आकांक्षाजन्य तनाव और उद्वेगों से मुक्त होने के लिए लोग योग करते हैं। योग कल तक धर्म का पर्याय था, आज वह 'धर्मात् अर्थश्च कामश्च किमर्थं तन्न सेव्यते?' अर्थ, काम का साधन हो गया है, अतः जैन 'अयोग' की साधना करने लगे हैं। धर्म से अध्यात्म की ओर बढ़ने का यह, एक उपक्रम है।

योग एवं अयोगभूमि

योग क्या है? चित्त वृत्तियों का निरोध। इससे कार्यकुशलता आती है। जिनका चित्त चंचल नहीं होता और जो जिम्मेवारियों का निर्वहन करते हैं, वे योगी कहलाते हैं, इसके विपरीत जिनका चित्त चंचल है और जिम्मेवारियों का निर्वाहं नहीं कर पाते, वे भोगी हैं। भोग परस्ती सांस्कृतिक पतन की ओर ले जाती है और योग परस्ती असांस्कृतिक प्रवृत्तियों को अंकुश में रखती है। योग और भोग के परिणामों से कौन अपरिचित है? अनगिन उपलब्धियाँ योगियों को हस्तगत होती हैं और उपभोग सामग्रियाँ भोगी जुटाता है। जहाँ विचारक योग एवं भोग की ही चर्चाओं में उलझे रहे, वहाँ जैनों ने अयोग–साधना के द्वार खोले। अयोगावस्था प्राप्त करने हेतु पहले मनोभूमिका तैयार की जाती है तत्पश्चात् यथार्थ दृष्टि और सम्यक् आचरण अपेक्षित होता है। शुभ एवं अशुभ छोड़कर जो शुद्धत्व को उपलब्ध हो जाता है, उसे वीतराग कहते हैं। वीतरागता अनन्त आध्यात्मिक शक्तियों का उत्स है। उसमें मन–वचन–काया की क्रियाशीलता विद्यमान रहती है। **'सयोगी केवली'** उस भूमिका को आलोकित रखते हैं। सशरीर परमात्मा का विशेषण उन्हीं के लिए प्रयुक्त होता है। वर्षों तक इस अवस्था में रहा जा सकता है, किन्तु जिसका मन–वचन–काया का व्यापार रुका, वह **'अयोगी केवली'** हुआ। अयोगावस्था की अवधारणा के मूल में जन्म–मरण के दुःखों से छुटकारा पाने हेतु परम पुरुषार्थ की प्रेरणा जगाना है। जो लोग इतनी उदात्त भूमि पर नहीं पहुँच पाते, वे योग की लौकिक उपलब्धियों

में ही डूब जाते हैं। योग की जीवनव्यापी उपयोगिता न समझने से ही जीवन भोग परायण हुआ है। भोगोत्पन्न दुःख, अशांति असमाधान, रोगों के निराकरण के कृत्रिम उपाय समस्या का समाधान कहाँ दे पाते हैं?

संस्कृति विषयक यक्ष प्रश्न

काम-भोग उत्तरोत्तर बढ़े हैं, यह जानने का मानक है। सभ्यता के आदिकाल में जनसंख्या की बढ़ोत्तरी की दर 0.1 प्रतिशत थी। दस हजार साल पहले भूमण्डल की 3 करोड़ आबादी मानी गयी, जो महावीर के समय बढ़कर 10 करोड़ हुई। सन् 1972 तक बढ़ते-बढ़ते विश्व की आबादी 55 करोड़ हुई। उसके बाद के 322 सालों में जनसंख्या इतनी तेजी से बढ़ी कि आज भारतीय आँगन में, हर साल आस्ट्रेलिया जैसे महाद्वीप की जितनी जनता है, उससे कहीं ज्यादा जन पैदा हो रहे हैं।

कृषि, उद्योग, चिकित्सा, विज्ञान की उन्नति से जहाँ एक ओर मृत्यु पर विजय पाना संभव हुआ, वहीं दूसरी ओर भोजन की तामसिकता, सिनेमा, दूरदर्शन आदि के जरिये प्रोत्साहन पाती कामुकता, धर्म के नाम पर बहुपत्नित्व की मान्यता और गलत तरीके से अर्जित संपदा काम भोगों को खाद-पानी दे रही है, जिसे नजरंदाज करने से सांस्कृतिक विकास के मापदंड ही बदल गये हैं।

संयम उपहास का और सादगी अविकसित होने का कारण बन जाय, उस देश में संवेदनशील संस्कृति कहाँ रहेगी। जैनों के साथ-साथ जन-जन के सामने खड़े इस यक्ष प्रश्न का है कोई उत्तर? विकास के नाम पर अमानवीय आचरण करते रहने से प्रकृति, पर्यावरण, पशु-पक्षी और पारस्परिकता कितनी बच पायेगी और कब तक बच पायेगी? सोचें। बिना इनको बचाये जयजगत् कैसे होगा?

कहा जाता है कि पिछले विश्व युद्ध के दौरान गोरे शासकों ने हब्शियों के प्रशान्त देश में सैनिकों की भर्ती करने का अभियान चलाया। हब्शी जुटे और पूछ बैठे- क्या करेंगे सैनिक? युद्ध! क्या होता है- युद्ध में? जवान जूझते हैं और शत्रु देश के जवानों को मार कर उस पर कब्जा कर लेते हैं।

युद्ध में जो जवान मारे जाते हैं, उनका क्या करते हो? हम उन्हें सम्मान से दफना देते हैं। केवल दफनाने के लिए अपने और पराये जवानों को मारने वाले आदमखारों की सेना में हम भर्ती नहीं हो सकते- कहकर हब्शियों ने जिन गोरों को बैरंग लौटा दिया, उनके रंग में रंगी संस्कृति को लौटाने की शक्ति **अवतारवाद** में है या **उत्तारवाद** में? उन्नत अवस्था से अवनत अवस्था की ओर प्रस्थित होना अवतारवाद है और उत्तारवाद में अविकसित अवस्था से विकसित अवस्था की ओर अग्रसर हुआ जाता है। भौतिकवादी जीवन पद्धति और आध्यात्मिक जीवन पद्धति को अध्ययन का विषय बनाये बिना इन वादों का हेय, ज्ञेय, उपादेय स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता।

विकास यात्रा का ताना-बाना

पाषाण काल से परमाणु काल की लंबी विकास यात्रा का अध्ययन होना चाहिए। इसका आधार महावीर के जन्म–जन्मांतरों की कथा बन सकती है। यह कथा **नयसार** की चर्चा से आरंभ होती है, जो महावीर के पहले भव की परिचायक है। दूसरा भव ग्राम सभ्यता काल के **पुरुरवा** का मान लिया जाय तो उनका तीसरा भव **मरीचि** के रूप में नगर सभ्यताकाल की गाथा बन जाता है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पौत्र तथा प्रथम चक्रवर्ती भरत के पुत्र के रूप में मरीचि का उल्लेख सज्जनों की संगति एवं सज्जनता के प्रोत्साहन कर्ता के रूप में होता रहा है। इसके पश्चात् **त्रिपृष्ठ वासुदेव** और **प्रियदर्शी चक्रवर्ती** के तौर पर शासन और शक्ति के क्षेत्र में आगे बढ़ कर भी उन्हें जो अप्राप्त रहा, वह नन्द के रूप में लोक सेवा से प्राप्त हुआ। लोकसेवा को तीर्थंकर गोत्र बंध का हेतु मानने के पीछे परार्थ को प्रतिष्ठा देने का भाव है, जिससे तीर्थंकर बनकर **महावीर** आखिर परमार्थ को उपलब्ध होते हैं। परमात्मभाव तो उपलब्धि है। तीर्थंकर महावीर का जीवनकाल ई.पू. 599 वर्ष से ई. पू. 527 वर्ष की समयावधि ही दर्शाता है, किन्तु साधनाकाल कई युगों में फैला है। हम उस फैलाव को न समझ पाने से मात्र 72 वर्ष की परिधि में भटकते रह जाते हैं, तो महावीर की समग्रता पर पर्दा पड़ जाता है और भारतीय जन–जीवन शैली अध्ययन का विषय नहीं बन पाती, जबकि उसी के अध्ययन से व्यक्ति, समाज, देश–शेष का कल्याण संभव है। प्रेम और श्रेय की साधना जन्म–जन्मांतरों के बाद सिद्धि देती है। तीर्थंकर होने वाला हर व्यक्ति जब यह साधना करता है तो वह मौन व्रत, कठोर तप, एकांतवास और गृहत्याग से अधिक निम्न विषयों पर ध्यान केन्द्रित करता है–

1. संवेदना का विस्तार
2. सद्–असद् का विवेक
3. सत् के प्रति प्रतिबद्धता
4. बाल–वृद्ध रोगियों की सेवा
5. दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से समाज को उबारने का संकल्प
6. गुणीजनों का मान तथा गुणों का गानकर जनता को गुणानुरागी बनाना
7. ज्ञान की आराधना तथा ज्ञान–प्रचार की लगन
8. तप से लगाव तथा तपस्वियों की भक्ति
9. संयम साधना तथा संयमियों के लिए समर्पण
10. जीव–जगत् से मैत्री साधने हेतु सब की मंगलकामना करते हुए अविरोधी जीवन–चर्या अपनाना

ज्ञाता (धर्मकथाङ्ग) में तीर्थंकरत्व पद प्राप्ति के बीस कारण बताये गये हैं, वे जन–जीवन को संपन्नता प्रदान करने वाले हैं। इसी कारण तीर्थंकर ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप संपन्न होकर भी दान, शील, तप, भावना को सामाजिक मूल्य बनाते हैं। उनसे जनता को प्रत्यक्ष लाभ पहुँचता है। वे जहाँ भी पहुँचते हैं, वहाँ प्लेग आदि बीमारियाँ नहीं होती हैं, न ही चूहे आदि जीव धान्यादि नष्ट करते हैं। बाढ नहीं आती। सूखा नहीं पड़ता। आक्रमण–प्रत्याक्रमण नहीं होते। भाषागत समस्याएँ मिट जाती हैं। परस्पर वैर–विरोध रखने वाले भी सहजीवन को नुकसान पहुँचाने वाली मनोभूमिका छोड़ देते हैं। उनके गमन एवं स्थिति क्षेत्र में शीतल, मंद, सुगंधित पवन चलती है। चौंतीस **अतिशय** तथा पैंतीस **वचनातिशय** तीर्थंकरों की जन्मजात विशेषताएँ नहीं है, वे साधना जन्य उपलब्धियाँ हैं, जिनसे **'जीओ और जीने दो'** के साथ **'जिलाओ और जीओ'** की संस्कृति फलती–फूलती है। इस संस्कृति के सहारे तीर्थंकरों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व अनुकरणीय हो जाता है। दूसरों को बदलने की प्रेरणा मिलती है। यही प्रेरणा बुद्ध ने संघ और धर्म को माध्यम बनाकर तथा गाँधी ने सत्याग्रह और स्वावलंबन को आधार बनाकर दी, जिससे सांस्कृतिक जीवन उन्नत होता रहा है। जब तक जगती का जीवन निरापद नहीं हो जाता, उन्नति के लिए हम नयी नयी तकनीक अपनाते रहेंगे। व्यष्टि के साथ समष्टि की विकास यात्रा क्यों रुके?

यह दुर्योग ही माना जाना चाहिए कि हम **प्रेरणा** की जगह **प्रेरक** को ही सब कुछ समझ बैठते हैं। जहाँ प्रेरक पर ध्यान केन्द्रित हुआ कि प्रेरणा प्राणहीन हुई। फिर न शाश्वत सुख हाथ लगता है, न जीवन की समग्रता के ही दर्शन होते हैं। धर्मग्रंथों, पुरातात्त्विक अवशेषों, परंपरागत मान्यताओं के रहते क्या सामाजिक जीवन का अन्तर्विरोध प्रभावी हो सकता है ? अन्तर्विरोधजन्य बुराईयों के फैलते या बढ़ते जाने का अर्थ ही है कि सामाजिक जीवन की पवित्रता बनाये रखने की क्षमता धर्मग्रंथ और परम्परा के प्रहरी खो बैठे हैं। आदर्श कुछ है, व्यवहार कुछ है। जीविका और जीवन में मेल नहीं है। धर्म से शोषक–शोषित, शासक–शासित, मालिक–मजदूर की भाँति पूज्य–पूजक शब्दों में निहित बेमेलपन नहीं मिट रहा है। सामंतवादी संस्कार, पूँजीवादी मनोवृत्ति, समाजवादी नारे और व्यक्तिवादी आचरण त्यागे बिना धार्मिकता फले कैसे? बदलती दुनिया में बदलते मूल्य टिकते हैं। एक समय जो मान्यता विकास में साधक होती है, वही दूसरे समय बाधक बन जाती है। उसे हटाना या छोड़ना पड़ता है। यह रहस्य न जानने वाले प्रतिमा की प्राण–प्रतिष्ठा भले ही कर लें, किन्तु प्रतिमा विसर्जन में निहित तत्त्व को हृदयंगम नहीं कर सकते। धर्माचार्यों, राजनेताओं और संगठन प्रमुखों का ध्यान इस ओर जाना चाहिए। जीवन के चक्रव्यूह में प्रवेश करना आये, वैसे ही चक्रव्यूह भेदन की कला भी ज्ञात हो, तब धर्माचरण कर जीवन जयी हुआ जा सकता है।

सर्जन और विसर्जन ही जीवन का ताना बाना है। कर्म और कारण, आवश्यकता और आबोहवा, प्रकृति और संस्कृति, धर्म और कर्म इसमें उपादान है और निमित्त भी। वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, समाज वैज्ञानिक मिलकर यदि जीवन की सुसंवादिता कायम रखना चाहते हैं तो जागतिक स्तर पर काल खंडों में बिखरी सामग्री बटोरें।

बारह काल खंड

हमारे सम्मुख 12 कालखंड हैं, जिनके आधार पर दृष्टि एवं सृष्टि के मेल साधने का साहस करना होगा और अतीत में हुई भूलों से सबक सीख कर अनागत को मंगलमय बनाने के लिये वर्तमान को **'सर्वकल्याणकारी'** बनाना होगा। 'विश्व मैत्री काल' की मांग है कि विकसित और विकासशील राष्ट्रों में बंटी दुनिया, संप्रदायों में विभाजित धर्म एवं वर्ग–वर्ण से बिखरे समाज को 'जय जगत' की ठोस धरती दें। विश्व–व्यवस्था को समझने / समझाने में सहायक हैं–

1. युगारम्भ काल (मत्स्य कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, अर्द्धविकसित मानव)
2. सभ्यता का श्री गणेश काल।
3. नीति निर्धारक काल।
4. संयम धर्म संस्थापना काल।
5. प्राग् ऐतिहासिक काल।
6. सिन्धु सभ्यता काल।
7. वैदिक काल।
8. धर्माधारित सामाजिक क्रान्ति काल।
9. दर्शन विवेचना काल।
10. पराधीनता काल।
11. दुविधा काल।
12. विश्व मैत्री काल।

जीवन और जगत् की अविरोधी हित–साधना को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाने वाली दृष्टि इन काल–खण्डों का अध्ययन करने/कराने में सहायक हो सकती है और सृष्टि की सृजनशीलता का आकलन कर सकती है। किसी विचारक ने उसी ओर इंगित करते हुए लिखा भी है कि 'एक दिन धरती के सारे दीपक बुझ जायेंगे। वैभव के दीपकों को काल खा जायेगा। धर्म के दीपकों को कर्मकाण्ड खा जायेगा। लेकिन सभ्यता व संस्कृति के भाल पर पुरुषार्थ ने जो परमार्थ का तिलक लगाया है, वह अपने प्रकाश में कभी क्षीण नहीं होगा।' हमारी जीवन–शैली उसी से प्रकाशित है, आलोकित है। 21वीं सदी के द्वार पर दस्तक देते समय कम से कम अब यही तय कर लें कि

अँधकार को क्यों धिक्कारें, अच्छा है इक दीप जला ले।
काल पुरुष के चरण चिन्ह लख, तथ्य-सत्य के दर्शन पा लें।।
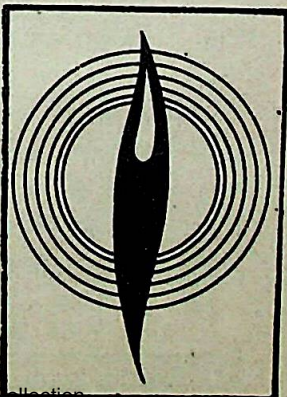
संदर्भ एवं संदर्भ सूची

1. जं इच्छसि अप्पणत्तो जं च ण इच्छासि अप्पणत्तो।
तं इच्छ परस्स वि मा एत्तियग्गं जिणसासयं।। वृहत्कल्प भाष्य
2. प्राचीन भारत, पृ.–28, डॉ. राजबलि पाण्डेय।
3. महावीर जीवन चरित।
4. प्राचीन भारत, पृष्ठ–39, डॉ. राजबलि पाण्डेय।
5. प्राचीन भारत, पृ.–36 डॉ. राजबलि पाण्डेय।
6. इतिहास की अमरबेल, ओसवाल, पृष्ठ 53–54, मांगीलाल भूतोड़िया।
7. स्वायंभुव मनु के पुत्र प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र अग्नीन्ध्र, अग्नीन्ध्र के पुत्र नाभि और नाभि के पुत्र ऋषभ होने का भी उल्लेख मिलता है। जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ.–8, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल।
8. अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैताः मोक्षदायिकाः।।- भारतीय संस्कृति
9. ऋषभात् भरतोजज्ञे वीरः पुत्रः शत्राग्रजः। ब्रह्माण्डपुराण पर्व 2, 14
10. पिता के पत्र पुत्री के नाम, पृष्ठ–91 -जवाहरलाल नेहरू।
11. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ–129, रामधारी सिंह दिनकर।
12. अग्निपुराण अध्याय–10, मार्कण्डेय पुराण अध्याय–50
13. जैन दर्शनः मनन और मीमांसा, पृष्ठ–12, -मुनि नथमल।
14. श्रमण वर्ष 11 अंक–6, अप्रैल, 1960 –श्री दिनकर।
15. अहिंसा पर्यवेक्षण, पृष्ठ–5 – मुनि श्री नगराजजी।
16. जैन दर्शनः मनन और मीमांसा, पृष्ठ–16 –मुनि नथमल।
17. उत्तर प्रदेश में जैन धर्म का उदय और विकास –भगवान् महावीर स्मृति ग्रंथ खण्ड–6, पृष्ठ 4–5.
18. भारतीय श्रमण संस्कृति, पृष्ठ–11 –जवाहिरलाल जैन।
19. आषाढ़ मास बहुल प्रतिपद दिवसे कृति।
कृत्वा कृता युगारम्भ प्रजापत्ये मुपोषिवान्।। –आदि पुराण, 161, 90.
20. धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग) पृष्ठ–484 –पाण्डुरंग काणे।
21. पिता के पत्र पुत्री के नाम, पृष्ठ–49 –जवाहरलाल नेहरू।
22. परिशिष्ट–1, अहिंसा पर्यवेक्षण –श्री जी.सी. पाण्डेय।
23. तीर्थंकरों के प्रतीक चिन्ह : दुःख मुक्ति का उपाय, पृष्ठ–48.
24. मंथन भाग–1, पृष्ठ 164–182. गणपति शंकर।

25. संस्कृति के चार अध्याय —दिनकर।
26. भारतीय वास्तुकला के विकास में जैनधर्म का योगदान --प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी। पृष्ठ 65–66
27. भारतीय संस्कृति, पृष्ठ–25 गुलाब राय।
28. मुखबाहू रूपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवावश्चार्य वाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृतः।। मनुस्मृति अध्याय 10, 45.
29. भारतीय संस्कृति : सिन्धुघाटी की सभ्यता पृ. 81 गुलाबराय
30. प्राचीन भारत, पृष्ठ 57–58, --डॉ. राजबलि पाण्डेय।
31. महाभारत कालीन समाज, पृष्ठ 363–364, सुखमय भट्टाचार्य।
32. प्राचीन भारत, पृष्ठ 50–51, --डॉ. राजबलि पाण्डेय।
33. भारतीय श्रमण संस्कृति पृ. 8 --जवाहिर लाल जैन।
34. भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 40 --गुलाब राय।
35. अहिंसा पर्यवेक्षण, पृष्ठ 3–4, --मुनि श्री नगराजजी।
36. भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 40, --गुलाब राय।
37. पिता के पत्र पुत्री के नाम, पृष्ठ 91, --जवाहरलाल नेहरू।
38. अहिंसा पर्यवेक्षण, पृष्ठ 120, --मुनि श्री नगराजजी।
39. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वा.--1, पृष्ठ 84–86, केश।
40. पारसनाथ चरित की प्रस्तावना, प्रो. प्रफुल्ल कुमार मोदी।
41. पुराण साहित्य की उत्पत्ति, डॉ. नलिनी मोहन सान्याल।
42. हत्वा वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। गीता – 2.17
43. दुनिया में सबसे ज्यादा मांस खाने वाले अमेरिका में हैं। वहाँ प्रति व्यक्ति माँस की खपत 112 किलोग्राम है, जबकि भारत में सिर्फ दो किलोग्राम है। कार्नेल विश्वविद्यालय के डॉ. डेविड पीमेंटल के अनुसार अमेरिका में एक किलो माँस तैयार करने में 30 हजार किलो कैलोरी ऊर्जा गैसीलीन खर्च होती है। यदि दुनिया की 5.4 अरब आबादी अमेरिकी जीवन–शैली से पेट भरना चाहे, तो इस समय दुनिया में जितना अनाज पैदा किया जा रहा है, उससे ढाई गुने और ज्यादा अनाज की जरूरत होगी। अतः मांसाहार की जगह अब अनाज, फलों, सब्जियों पर जोर दिया जाने लगा है। इससे लोगों की आदतों व राष्ट्रीय नीतियों में नाटकीय बदलाव संभव है। (सप्रेस/ऊर्जा एवं पर्यावरण समूह)
44. आयुः सत्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः।। गीता–17.8
45. ईशावास्योपनिषद– 11.12
46. अस कहि जोग अगिनि तनु जारा।...
जग्य विधंस जाइ तिन्ह कीन्हा।–रामचरित मानस, बालकाण्ड
47. वाराणसी गजेटियर, पृष्ठ 25, (1965)
48. काशी का इतिहास, पृष्ठ 21, डॉ. मोतीचन्द
49. पाटल (विशेषांक, खण्ड–2), पृष्ठ 2–6, डॉ. अवधेश नारायण सिंह
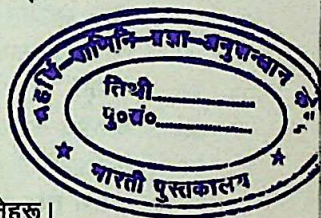
50. अनुज समेत देहु रघुनाथा,
निसिचर वध मैं होऊ सनाथा। ..रामचरित मानस, बालकाण्ड
51. समय बिलोकि वशिष्ठ बोलाये,
सादर सदानन्द मुनि आये।
बेगि कुँअरि अब आनहु जाई,
चले मुदित मुनि आयसु पाई।। ...रामचरित मानस, बालकाण्ड
52. महेन्द्र मुनि वाङ्मय
53. तब रघुपति रावन के सीस भुजा सर चाप।
काटे बहुत बढ़े पुनि, जिमि तीरथ कर पाप।।
खैंचि सरासन श्रवन लगि छांडे सर एकतीस।
रघुनायक सायक चले मानहु काल फनीस।। लंकाकाण्ड 97–102
54. संस्कृत काव्य के विकास में जैनकवियों का योगदान पृ. 03 नेमिचन्द्र शास्त्री
55. भारतीय श्रमण संस्कृति, पृष्ठ 20–21, जवाहिरलाल जैन।
56. तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः। —विदुर नीति।
57. अखिल भारतीय माहेश्वरी महासभा : अमृत कलश, पृष्ठ–15
58. डॉ. रघुवीर सिंह, निदेशक– नटवर शोध संस्थान, सीतामऊ
59. श्रमण वर्ष–11, अंक–3, पृष्ठ 36–37, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल
60. श्रमण वर्ष–11, अंक–3, पृष्ठ 35–36; डॉ. मंगलदेव शास्त्री
61. पाटल (विशेषांक), खण्ड–2, पृष्ठ–8, डॉ. अवधेश नारायण सिंह
62. श्री कल्याण कुमार शशि
53. पं. बेचरदास जी द्वारा लिखित भगवती सूत्र की गुजराती प्रस्तावना
अनु. कस्तूरमल बांठिया, श्रमण पृष्ठ–12 अंक – 1, नवम्बर 1960
64. रजनीश प्रवचन
65. निरयावलिका, अंक–1, 35
66. ज्ञाता, अंक–14, 102
67. पूनिया चरित
68. उपासक दशांग, अ. 1
69. संति एगेहिं भिक्खुहिं गारत्था संजमुत्तरा। उत्तराध्ययन अ.–5, 20
70. गृहस्थो पि क्रियायुक्तो न गृहेण गृहाश्रमी।
न चैव पुत्रदारेण स्वकर्म परिवर्जितः।।
गृहस्थो मोक्ष मार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अणगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिने मुने।। गृहस्थाचार
71. उपासक दशांग, अ. 8
72. अरिहंते सरणं पवज्जामि सिद्धे सरणं पवज्जामि।
साहू सरणं पवज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।।
—मंगल सूत्र.

73. सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो न दीसइ जाइ विसेस कोइ।
सोवाग पुत्त हरिएस साहु जस्सेरिया इड्ढि महाणुभागा।
उत्तराध्ययन, अ. 12, 37

74. मनुष्य जाति रैकेव – आदिपुराण 38

75. कर खप्पर सिर श्वान है, लहूज खरडे हत्थ।
मग छिड़कत चाण्डालिनी रिषि पूछत यूं बत्त।।
तुम तो रिषि भोरे भये, नहिं जानत हो भेव,
कृतघ्नी की धूल कूं छिड़कत हूँ गुरुदेव।। एक .जैन कथा.

76. तहेव काणं काणेत्ति पंडगं पंडगेत्ति वा।
वाहियं वा वि रोगित्ति तेणं चोरेत्ति नो वए। –दशवैकालिक अ.–7.12.

77. चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि अ वीरियं।। –उत्तराध्ययन

78. सूत्र कृतांग 1–1

79. सामण्णं अह विसेसं दव्वे णाणं हवेई अविरोहो।
साहइ तं सम्मत्तं पाहु तस्स विवरीयं।। –नयचक्र संग्रह

80. तीर्था–तीर्थ तीर्थंकरातीर्थंकर स्वान्य गृह स्त्री–पुरुष–नपुंसक लिंग प्रत्येक बुद्ध स्वयं बुद्ध बोधितैकानेक भेदात् पंचदशधा। –जैन सिद्धांत दीपिका, 5–41.

81. भगवती श.–2, उ.–1

82. भगवती श.–2, उ. 32–1–34.

83. सूत्रकृतांग श्रु–2 अ.–7, 39–40

84. भगवती श.–1 उ.–ए. 15.

85. युग पुरुष महावीर पृष्ठ 22–23, शरद कुमार साधक

86. उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णा स्त्वयिनाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् परिदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः।।
–आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

87. खामेमि सव्व जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मिति मे सव्व भूएसु वेरं मज्झ ण केणइ।। आवश्यक सूत्र.

88. अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने वृहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। न ब्रह्म अब्रह्म इति। –तत्वार्थ सूत्र, –7, 16

89. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रो. भरतसिंह उपाध्याय

90. भगवती सूत्र शतक 15

91. सिंह सेनापतिः महापंडित राहुल सांकृत्यायन।

92. जैन संस्कृति का हृदय, पं. सुखलाल संघवी।

93. निरीश्वर वादः भारतीय एवं पाश्चात्य, पृष्ठ–22, डॉ. याकूब मसीह।

94. चित्रा तु देशनैतेषां स्यात् विनेयानुगुण्यतः।
यस्मात् एते महात्मानो भव व्याधि भिषग्वराः।। –आचार्य हरिभद्र।

95. अपभ्रंश का जैन साहित्य और जीवन मूल्य (भूमिका) डॉ. साध्वी साधना।
96. सीमंधर प्रमुख जघन्य तीर्थंकर बीस।
एक सौ ने सत्तर उत्कृष्ट पदे जगीश।। (बड़ी साधु पद वन्दना)
97. जे य बुद्धा, अइक्कंता जेय बुद्धा अणागया।
संती तेसिं पइट्ठाणं भूयाणं जगई जहा। अर्हत् वन्दना
98. अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने !
यतोहि कर्म भू रेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः ।।
99. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृष्ठ 27, 68, 69, 70
—मुनि श्री नगराजजी।
100. भगवती शतक 15
101. युवा दृष्टि वर्ष 1 अंक 2 अक्टूबर—नवम्बर 1973
102. यह क्या ? पृ. 59—60—61 — देवेन्द्र कर्णावट
103. शमार्थं सर्व शास्त्राणि विहितानि मनीषिभिः।
स एव सर्व शास्त्रज्ञः यस्य शान्तं सदा मनः।।
104. येन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शन तुल्यताम्।
मोक्षोद्देशात् विशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित्।। अध्यात्मोपनिषद, 1—7
105. माध्यस्थभावसहितं ह्येकपद ज्ञानमपि प्रभा।
शास्त्र कोटि वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना।। अध्यात्मोपनिषद, 1—73
106. धम्मु ण पढियाई होइ धम्मु ण पोत्था पिच्छियइ।
धम्मु ण मट्ठी पएसिं धम्मु ण मत्था लुंचियइ।।
107. धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो। —दशवैकालिक अ—1.1
108. मेरी भावना : पं. जुगल किशोर जी मुख्तार।
109. महावीर वाणी (हिन्दी पद्यानुवाद) कवर पृष्ठ—4
110. वीतराग। सपर्यात स्तवाज्ञापालनं परम्।
आश्रवः सर्वथा हेय उपादेयश्च संवरः।।
111. से सुयं च मे अज्झत्थियं च मे। बंधप्प मोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव।
मोक्ष सूत्र.
112. पढ़मं पोरसि सज्झायं बायं झाणं झियावई। उत्तराध्ययन 27—12
113. बारह भावना : एक सामाजिक चिन्तन —श्री ज़मनालाल जैन
114. श्रमण संस्कृति का केन्द्र, श्रमण वर्ष—2, अंक—1, नवम्बर 1950,
डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी
115. म. महावीर स्मृति ग्रंथ, पृ. 64—67 —प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी
116. 'ॐ रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृंखला, वज्रांकुशा, अप्रतिचक्रा, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, सर्वास्त्र महाज्वाला, मानवी, वैराढ्या, अच्युप्ता, मानसी, महामानसी, एता षोडश विद्यादेव्यो रक्षन्तु मे स्वाहाः।

117. ॐ पुत्र–मित्र–भातृ–कलत्र–सुहृत् स्वजन–सम्बन्धी बन्धुवर्गसहिता नित्यं चामोद प्रमोदकारिणः भवन्तु। अस्मिश्च भूमण्डले आयतन–निवासिनां साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविकाणां रोगोपसर्गा–व्याधि–दुःख–दुर्भिक्ष– दौर्म–नस्योपशमनाय शान्तिर्भवतु।
118. ॐ तुष्टि–पुष्टि–ऋद्धि–वृद्धि–मांग्ल्योत्सवाः सदा प्रादुर्भूतानि पापानि शाम्यँन्तु दुरितानि शत्रवः भवन्तु पराङ् मुखाः भवन्तु स्वाहाः।
119. सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लोकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्।।
120. भगवान् महावीर स्मृति ग्रन्थ, खण्ड–4, पृष्ठ 64–67,
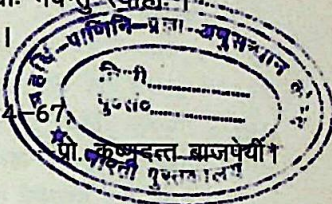
121. प्राचीन भारत पृ. 152–153
122. कोसलाधिपतेः द्विरश्वमेध याजिनः सेनापतेः पुष्य मित्रस्य। –एपिया ग्राफिया इंडका जिल्द–20, पृष्ठ 54–58 (1920) –डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार पुष्य मित्र कलिंग के राजा खारवेल से हार गया। अतः उसे दुबारा दिग्विजय कर अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा –प्राचीन भारत पृष्ठ–202, डॉ. राजबलि पाण्डेय।
123. आचारांग, श्रुत–2, अ.–1, उ.–5, 252
124. जगडूचरित
125. 'सण्डे हो या मण्डे रोज खाओ अण्डे' के लगातार प्रचार से आज विश्व में सबसे अधिक सब्जी उत्पादन करने वाले देशों में भारत प्रथम स्थान पर नहीं रहा। संतोष इतना ही है कि अभी दूसरे स्थान पर है और इस समय देश में 66 मिलियन टन सब्जी पैदा हो रही है। सब्जी अनुसंधान निदेशालय के परियोजना निदेशक डॉ. गौतम फल्लो के अनुसार देश में आजादी मिलने के समय सब्जी का जो उत्पादन था, उसमें 10 गुना वृद्धि हुई हैं। इस सदी के अन्त तक इस देश की जन्संख्या बढ़कर लगभग एक अरब हो जायेगी, तब 90 मिलियन टन सब्जी की जरूरत पड़ेगी। –दैनिक जागरण, 2 जून, 1994
126. वर्तमान भारत, पृष्ठ–2 (षष्टम संस्करण, 1964)
127. स्वदेश चिन्तन, पृष्ठ 79–83, डॉ. यु.ग. सहस्रबुद्धे
128. नेहरू ने कहा था, पृष्ठ 82–83, गिरीराज शरण।
129. श्रमण वर्ष 11, अंक–6 जुलाई 1960, –श्री कस्तूरमल बांठिया।
130. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 12–13–14, –आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
131. अठारहवीं सदी में भारत, अध्याय–1, –जवाहिरलाल जैन।
132. विश्व इतिहास की झलक, पृष्ठ–252, –जवाहरलाल नेहरू।
133. महादेव भाई की डायरी, खण्ड–5, पृष्ठ–165
134. महादेव भाई की डायरी, खण्ड–1, पृष्ठ–246
135. महादेव भाई की डायरी, खण्ड–1, पृष्ठ–207

136. अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रहः।

शरीर श्रम अस्वाद सर्वत्र भय वर्जन।।
सर्व धर्म समानत्व स्वदेशी स्पर्श भावना।
विनम्र व्रत निष्ठा से ये एकादशं सेव्य हैं। —आश्रम प्रार्थना।

137. इण्टरनेशनल रिव्यू ऑफ डिप्लोमेटिक पोलिटिकल साइंस की अध्ययन रिपोर्ट।

138. श्रावक व्रताचार।

139. गृहस्थ जीवन का जैन आदर्श —डॉ. ज्योति प्रसाद जैन।

140. महादेव भाई की डायरी, भाग—1, पृष्ठ 206—207, चार्ली को लिखा पत्र।

141. उज्ज्वल प्रवचन : यंत्र युग और गृहोद्योग, पृष्ठ 74—82

142. महादेव भाई की डायरी, खण्ड—6, पृष्ठ—24

143. कोहो पीइं पणासेई माणो विणय नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्व पणासणो।।
उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
माया मज्जव भावेण लोहो संतोसओ जिणे।।
दशवैकालिक अं.—8, 18, 19.

144. साध्वाचार

145. णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्व साहुणं।।

146. मनुष्य की कहानी, पृष्ठ 49—50, वंशीधर श्रीवास्तव।

147. स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत् व्रजेत किम्। गीता अ.—2, 54

148. कहं चरे कहं चिट्ठे कहं आसे कहं सये।
कहं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं ण बंधई।।
जयं चरे जयं चिट्ठे जयं आसे जयं सये।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं ण बंधई।। —दशवैकालिक अं.—4

149. जे असवा ते परिसवा जे परिसवा ते असवा। —आचारांग।

150. मनोनुशासनम् (भूमिका), —आचार्य तुलसी।

151. निर्जित मदमदनानां वाक्कायमनोविकार रहितानाम्,
विनिवृत्त पराशानामिहैव मोक्षः सुविहातानाम्। —प्रशमरति 230

152. महादेव भाई की डायरी, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 395—396

153. विचित्र भाई अभिनन्दन ग्रंथ पृ. 16—17 —रामप्रवेश शास्त्री

154. सव्व जीव—जग—रक्खण—दयट्ठयाए। —प्रश्न व्याकरण।

155. सर्वान्तवत् तद्गुण मुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदंतवैव।। —युक्त्यनुशासन 61

156. श्री गणेश प्रसाद सिंह मानव

157. आचार्य कुल वर्ष 14, अंक—2, फरवरी 1986

●

लेखक परिचय

- मेवाड़ में जन्म (१९३१) ● मारवाड़ में शिक्षा-दीक्षा।
- राजस्थान में पशुबलि, सप्त व्यसन तथा अन्ध विश्वासों के खिलाफ चलने वाले अभियान में सहभागिता।
- भारत में भूदान मूलक, ग्रामोद्योग प्रधान, अहिंसक क्रान्ति की विभिन्न प्रवृत्तियों में सक्रिय रहते हुए संगठन, संचालन, लेखन, संपादन
- 'वर्ल्ड कान्फ्रेंस ऑफ रिलीजन फॉर पीस' एवं 'विश्व धर्म संगम' के कार्यक्रमों के तहत विदेश भ्रमण
- उ. प्र. सरकार द्वारा गठित म. गांधी की १२५ वीं जयंती समारोह समिति तथा भारत सरकार द्वारा गठित विनोबा जन्म शताब्दी समिति के सदस्य
- गांधी विनोबा द्वारा प्रस्तावित रचनात्मक प्रवृत्तियों के साथ स्वतंत्रता की स्वर्णजयन्ती को ध्यान में रखकर १९९४ से १९९७ तक आयोजित हो रहे जय जगत महोत्सव के राष्ट्रीय संयोजक
- आचार्य कुल (मासिक) के सम्पादक, जो वाराणसी की सेवा-संस्थाओं से भी संबद्ध हैं और एहसास कराते हैं :

'मेहनत सेवा राम की अब न घड़ी आराम की'

इतिहास
के
अधखुले पृष्ठ